मलिक मुहम्मद जायसी : एक अध्ययन

लेखक
रामरतन भटनागर

कि ता ब म ह ल
इलाहाबाद

जायसी

हिन्दी कविता को जिन मुसलमान सहृदय कवियों का सहयोग मिला है, उनकी संख्या कम नहीं है, परन्तु उनसे कदाचित् जायसी सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं। मुसलमान कवियों की रचनाएँ हिन्दवी, अवधी और ब्रजभाषा में प्राप्त हैं और इनकी परम्परा ग्यारहवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण चली आती है। विचारधारा की दृष्टि से इस्लामी हिन्दी काव्य मनोरंजन, कट्टर इस्लामी भावना और सूफ़ीमत को लेकर चलता है। कबीर और जायसी सूफ़ी विचारधारा के सब से बड़े कवि हैं। इस विचारधारा में मौलिकता भी कम नहीं है। अतः इन कवियों के काव्य का अध्ययन हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य वस्तु है।

दोहा-चौपाइयों की परम्परा सरहपा (७५० ई०) से पहले से चली आती है और जैन गाथाओं और स्वयंभू एवं पुष्पदंत जैसे अपभ्रंश भाषा के महाकवियों द्वारा ये छंद कथा, नीति, धर्म और दर्शन के प्रकाशन के लिए बहुत बड़ी मात्रा में प्रयोग में आ चुके थे। सूफ़ी कवियों ने जनता में व्यवहृत इन्हीं लोकप्रिय छंदों का प्रयोग किया और इन्हीं के द्वारा अपना 'प्रेम की पीर' का संदेश जनता में पहुँचाना चाहा। दोहा-चौपाइयों की यह परिपाटी पूर्वी हिन्दी प्रदेश में इतनी लोकप्रिय थी कि जायसी के 'पद्मावत' की रचना के ३५ वर्ष बाद रामचरितमानस (१५७५ ई०) की रचना करते हुए गोस्वामी तुलसीदास को अवधी भाषा और दोहा-चौपाई-सोरठा छंदों का प्रयोग करना पड़ा। तुलसी की भाषा, शैली और कला के अध्ययन के लिए कबीर और जायसी की रचनाएँ इतनी महत्वपूर्ण हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इन्हीं सब कारणों से जायसी के साहित्यिक अध्ययन का महत्व बढ़ जाता है। खेद का विषय है कि इस्लामी विचारधाराओं को समझने का प्रयास हिन्दी में बहुत कम हुआ है। सूफ़ी विचारधारा की श्रेष्ठता के संबंध में मतभेद नहीं हो सकता; वह विदेशीय है या विजातीय है, यह कहकर उसकी ओर से आँख मूँद लेना सहृदयता नहीं है। धार्मिक असहिष्णुता के इस युग में कबीर, जायसी, ताज और रसखान की रचनाएँ पढ़ी-पढ़ाई जायँ और उनकी आलोचना हो, तो राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन की बहुत सी कटुताएँ दूर हो जायँ, इसमें संदेह नहीं।

प्रयाग
दिसम्बर ५, १९४७

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

१

सूफ़ीमत और उसका इतिहास

कबीर और जायसी हिंदी के दो सर्वश्रेष्ठ सूफ़ी कवि हैं। वैसे कबीर को निर्गुण मत के अंतर्गत बताया जाता है और उनकी भावधारा को संत-भावधारा कहा जाता है। परंतु कबीर शेख तक़ी के शिष्य थे। यह प्रसिद्ध बात है। शेख तक़ी अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी थे और अब भी जौनपुर में उनकी समाधि बनी हुई है। कबीर की रचनाओं में सूफ़ी विचारधारा भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अतः कबीर का अध्ययन करने के लिए सूफ़ी विचारधारा का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। जायसी तो प्रसिद्ध सूफ़ी हैं ही। उनका पद्मावत सूफ़ियों का अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ रहा है। जायसी के अध्ययन की भूमिका के लिए सूफ़ीमत के सिद्धांतों और इस धार्मिक आन्दोलन का इतिहास जानना आवश्यक है।

हिंदी वाले जिसे सूफ़ीमत कहते हैं उसे फ़ारसी-उर्दू में 'तसव्वुफ़' कहा जाता है। 'तसव्वुफ़' और 'सूफ़ी' दोनों शब्द 'सूफ़' शब्द से बने हैं। "सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मसजिद के सामने सुफ़्फ़ा (चबूतरा) था उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफ़ी कहलाये। दूसरे लोगों का कहना है कि सूफ़ी शब्द के मूल में सफ़ (पंक्ति) है। निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में खड़े किये जायेंगे वास्तव में उन्हीं को सूफ़ी कहते हैं। तीसरे दल का

हो जिसका अवस्ता और वेद में उल्लेख है और अनंत युगों तक पौराणिकों को बराबर जिसकी स्मृति बनी रही। जो हो, यह ५००० पू० ई० से लेकर ४००० पू० ई० तक की बात है। उस समय अवस्ता और ऋग्वेद की रचना नहीं हुई थी। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्यपूर्व एशिया के मादन-भाव के पीछे एक विशेष जाति और धर्म की प्रेरणा जान पड़ती है। वह निःसन्देह भक्ति-प्रधान, योग-मूलक, रहस्यात्मक धर्म रहा होगा। इसी धर्म ने ऋग्वेद की आर्य भावना को उपनिषदों की रहस्य-वाणी प्रदान की होगी। विशेष परिस्थितियों के कारण सामी जातियों में धर्म-विकास ने दूसरा ही रूप पकड़ा, परंतु रहस्य, गुह्य और वेदांतात्मक रहस्यभाव मूल रूप से शामियों में भी मौजूद था—कहने का तात्पर्य इतना ही है।

आर्यों के धर्म का विकास ईरान और भारत में दो रूपों में हुआ। भारत के 'सुर' ईरान के 'असुर' बन गये। परंतु दोनों आर्य सभ्यताओं में विचारों और धर्म-संबंधी भावनाओं का आदान-प्रदान बराबर चलता रहा। शामीमत के विकास में पारसियों (ईरानी आर्यों) का बड़ा हाथ रहा है। पारसी-आर्यों की एक शाखा 'मग' कहलाती थी। ईसा मसीह के सयम में पूर्व (ईरान) के मग साधुओं की बड़ी प्रतिष्ठा थी। अंजील में एक कहानी है कि बालक मसीह का पता लगाते-लगाते पूर्व के सात मगसाधु यरूशेलम आये और उन्होंने बालक को आशीर्वाद किया। मगों का सूफ़ीमत से कोई संबंध अवश्य रहा होगा क्योंकि सूफ़ियों ने मगों को अपना गुरु माना है। "नास्टिक मत का प्रवर्तक साइमन नामक मग था। उसने जिस संप्रदाय का प्रवर्तन किया उसका अधिकांश बौद्धमत पर अवलंबित था। नास्टिक बुद्ध का पर्यायवाची शब्द जान पड़ता है।" "नास्टिकों से कहीं अधिक प्रभावशाली मानीमत के प्रचारक हुए। मानीमत ने स्वयं

मुहम्मद साहब को भी प्रभावित किया। मानीमत का तसव्वुफ़ के विकास में योग पूरा रहा और हल्लाज जैसे प्रसिद्ध सूफ़ी इसी मत के अनुयायी के रूप में बदनाम होकर मारे गये। इस मत का प्रवर्तक 'मानी' बौद्ध मत का ज्ञाता था। जिज्ञासा की प्रेरणा से उसने भारत तथा चीन में भ्रमण किया।" (वही, पृ० २४०)

सूफ़ीमत पर सिकंदरिया के नव-अफ़लातून मत का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। नव-अफ़लातूनी दर्शन यूनानी दर्शन का अंतिम रूप है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार "यह पाश्चात्य दर्शन और पौरस्त्य योग, रहस्यवाद अध्यात्मशास्त्र का एक अजीब मिश्रण था" (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ३७)। ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक ने पूर्व-पश्चिम में अनेक भिक्षु धर्म-प्रचार के लिए भेजे। कुछ भिक्षु यवन-देश (यूनान) भी पहुँचे। शाहबाजगढ़ी के शिलालेख में इस धर्मविजय का स्पष्ट उल्लेख है: "यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय (अशोक) ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा ६ सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है जहाँ अंतियोक नाम यवन राजा राज करता है।" महावंश २६। ३६ (भदंत आनंद कौसल्यायन का हिंदी-अनुवाद, पृष्ठ १३६)। ईसा पूर्व पहली सदी में लंका के रत्नमाल्य चैत्य के उद्घाटन उत्सव में सिकन्द-रिया के बौद्ध भिक्षु धर्मरक्षित के आने का जिक्र आता है। यह स्पष्ट है कि इस समय पश्चिम में अनेक बौद्धमत स्थापित हो चुके थे। पिथागोर (५७०—५०० ई० पू०) और सिकंदर (३५६—२१ ई० पू०) के समय से ही भारत दार्शनिकों और योगियों के लिए प्रसिद्ध था। सातवीं-छठवीं सदी ई० पू० में भारत में उपनिषदों के रहस्यवाद का जन्म हो चुका था और पीछे से आने वाले जैन, बौद्ध, योग, वेदांत, शैव, पांचरात्र, महायान, तंत्रयान, और वासुदेव-भक्तिमार्ग में इस रहस्यवाद का भी योग सहज रूप से हो गया। नव-अफ़लातूनी दर्शन के अनुसार इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष सारा

संसार माया, भ्रम, इन्द्रजाल है। विज्ञान (मानस) जगत ही सच्चा है। फ़िलोयूपियो (ई० पू० २५—५० ई०) नवीन-अफ़लातूनीय शासकों में सबसे महत्वपूर्ण है। इस दर्शन में सबसे बड़ा नाम प्लोतिन (Plotinus) का है जिसका समय २०५-७१ ई० पू० है। नवीन अफ़लातूनीय दर्शन की शिक्षा थी—"सभी चीजें एक अज्ञेय परमतत्त्व, अनादि विज्ञान से पैदा हुई हैं। परमात्मा से उनका संबंध वस्तु के तौर पर नहीं, बल्कि कल्पना के तौर पर है, यही कल्पना करना उस परमतत्त्व के अस्तित्व का परिचायक है। परमतत्त्व के किसी गुण को समझने के लिए हमारे पास कोई इन्द्रियाँ साधन नहीं हैं। इस परमतत्त्व से एक आत्मा पैदा होता है जिसे ईश्वर कहते हैं और जो विश्व का सृष्टि-कर्ता है।" "अफ़लातूँ ने प्रयोग या अनुभव से ऊपर बुद्धि को माना था; किन्तु नवीन अफ़लातूनी समाधि के साक्षात्कार, आत्मानुभूति को बुद्धि से भी ऊपर मानते थे।' (वही पृ० ४१)। इस प्रकार भारतीय रहस्यवादी धारा रोम और यूनान तक फैल गई। सिकन्दरिया में जो धार्मिक जिज्ञासा जगी, उसका श्रेय भारत को ही है, यह निःसन्देह ठीक है।

मसीह से बहुत पहले उनके देश में यहूदी धर्म फल-फूल रहा था। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि "ईसा से दो तीन सौ वर्ष पहले ही यहूदियों के देश में बौद्ध यतियों का प्रवेश होने लगा था; और जब यह संबंध सिद्ध हो गया, तब यह बात सहज ही निष्पन्न हो जाती है कि यहूदी लोगों में संन्यास-प्रधान एसी धर्म का और फिर आगे चलकर सन्यासयुक्त भक्ति-प्रधान ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव होने के लिए बौद्ध धर्म ही विशेष कारण हुआ होगा" (गीतारहस्य, पृ० ५९२)। मसीह के गुरु यूहन्ना एसीन-संप्रदाय के थे। इस मत में एक-चौथा अंश यहूदियों का था, तीन-चौथाई बौद्धों का। सूफ़ी-भावना के जन्म

और विकास के इतिहास में सीरिया और बसरा (ईरान) का प्रमुख हाथ रहा है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि अनेक बौद्ध भिक्षु सीरिया में पहुँच गये थे, और विशेष संकट की अवस्था में वे शामीमत स्वीकार करके वहीं रहने लगे (क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म, पृ० १०४)। धर्मसंकट के समय अनेक सीरिया-निवासी दक्षिण भारत में भी आकर बस गये थे, ऐसा द्राविड़ भाषाओं के अध्ययन से सिद्ध होता है (ए कम्पेरेटिव ग्रैमर आव दी ड्रूवेडियन लैंग्युएज, पृ० १६)। बसरा प्रांत (ईरान) पर तो भारत का प्रभाव इतना अधिक था कि अरब उसे हिंद का अंग समझते थे।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि मादनभाव से परम-सत्ता से संबंध जोड़ना मूलतः भारतीय भावधारा है जिसका स्रोत द्रविड़-सभ्यता या उससे भी पहले ढूँढ़ना होगा। यह आर्यभाव नहीं है। परंतु धीरे-धीरे यह भाव आर्यधर्म में भी प्रवेश कर गया। उपनिषदों में पहली बार इसके दर्शन होंगे और फिर भक्तिवाद के रूप में इसने परवर्ती सभी धर्म-चिंताओं को प्रभावित किया। भारत से इस भावधारा का प्रचार पश्चिमी देशों में हुआ और वहाँ शामीमत ने इसके योग से एक नितान्त नवीन रूप ग्रहण कर लिया।

'तसव्वुफ़' के इस्लामी रूप का आदि स्रोत '.कुरान' माना जाता है। कुरान मूलतः शामी ग्रंथ है, परंतु वह भारतीय धर्मचिंता से प्रभावित हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं। मक्का पश्चिमी अरब का उतना ही प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र था जितना पूर्व में बसरा। अतः यदि योग और रहस्यात्मक मिलन-विरह (मादनभाव) की साधना का प्रवेश .कुरान में हो गया, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हुई। मक्का के निवासी भारतीय

व्यापारियों की धर्मभावनाओं से अपरिचित नहीं रहे होंगे। मुहम्मद साहब ने हेरा की गुफाओं में तपद्वारा 'इलहाम' (ईश्वर-संदेश) की प्राप्ति की और इतिहास कहता है कि हिंदा नाम की हेरा की रानी ने अपने राज्य में एक मठ बनवाया था। अतः स्पष्ट है कि उस समय भारतीय विचार सामान्य रूप से दूर-दूर तक फैल गये थे और उनका व्यापक प्रभाव स्पष्ट था। जिन हनीफ़ और शेबी जातियों का कुरान में उल्लेख है और जो पश्चिमी समुद्र तट पर बसी कही जाती है, वे कदाचित् भारत की 'पणि' और 'शैव' जातियाँ हैं। संभव है उपनिषदों की विचारधारा का क़ुरान पर भी प्रभाव पड़ा हो। "हमारी समझ में कुरान में जो इस प्रकार के भाव आते हैं कि जिधर देखो उधर अल्लाह है, वह हमारे निकटतम है, व्यापक है, अन्तर्यामी भी है, आदि—ये सब उपनिषदों के प्रभाव हैं।" (तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत, परिशिष्ट, पृ० २४१) जो हो, सूफ़ी विचारधारा के मूल स्रोत अनेक हैं और ४००० पू० ई० से मुहम्मद के समय (सातवीं शताब्दी) तक इन स्रोतों का जल इतना मिल-जुल गया था कि उन्हें अलग-अलग पहचानना असंभव था।

मुहम्मद साहब के समय में अरब और भारत का व्यापार-संबन्ध बराबर बना हुआ था। इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी अरब यात्री इस देश में आते और दक्षिण में आदम के चरण-चिह्न (रामेश्वरम्) की यात्रा करते। उन दिनों इस देश में वीर कौलों का बड़ा प्रभाव था। ये लोग एक प्रकार के तांत्रिक बौद्ध थे। अरबी लेखकों ने इन्हें 'बेकर' कहा है। ये अरबों का सत्कार करते थे। जान पड़ता है, ये वीर कौल भारत के पतन के मुख्य कारण हुए। मुहम्मद साहब के समय में ही दक्षिण भारत उनसे परिचित हो गया था। चिन शहरयार नाम का

लेखक लिखता है कि जब सरनद्वीप (दक्षिण भारत) तथा आस-पास के लोगों को मुहम्मद साहब का हाल मालूम हुआ तब एक समझदार आदमी को पता लगाने के लिए अरब भेजा गया। उस समय हज़रत उमर का ज़माना था। वह आदमी रास्ते में मर गया। पर उसका दूसरा साथी सरनद्वीप पहुँच गया। उससे उमर महोदय की रहन-सहन सुनकर लोग मुसलमानों से और भी अच्छा व्यवहार करने लगे (अरब व हिंद के तालुक़ात, पृ० २६८)। उमर के समय में बम्बई के पास का थाना द्वीप अरबों के अधिकार में आ गया और कुछ समय बाद अरबों ने सिंध पर भी अधिकार जमा लिया। सिंध के मुसलमान मक्का जाने लगे और धीरे-धीरे मुलतान तसव्वुफ़ का केन्द्र हो गया। अरब और भारत के इस संबन्ध के साथ सूफ़ी वेदांत से सीधे प्रभावित होने लगे।

उमय्या देश के पतन के बाद ईरानी सभ्यता ने अरब सभ्यता पर विजय प्राप्त कर ली और अब्बासियों की कृपा से बग़दाद विद्या का केन्द्र बन गया। बरामका मन्त्री बने। ये पहले बौद्ध थे, अतः इनका भारत की संस्कृति और भारत के इतिहास के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था। इनके समय में अनेक ग्रन्थ संस्कृत से अरबी-फ़ारसी में अनूदित हुए। जान पड़ता है इस सूफ़ीमत पर दो भारतीय प्रभाव पड़े। एक तो वेदांत का प्रभाव; दूसरे महायान का।

इस समय महायान में सहजयान और वज्रयान नाम के गुह्य संप्रदाय चल रहे थे। सिद्धों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। इन संप्रदायों से सूफ़ियों का विशेष परिचय हुआ होगा। सिद्धों के 'आनंदवाद' (परम सुक्ख) ने सूफ़ियों को अवश्य ही प्रभावित किया होगा, इसमें कोई भी संदेह नहीं है। इस प्रकार सूफ़ीमत में धीरे-धीरे गुह्यता और भक्ति का योग हो गया।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, बसरा और बगदाद बहुत पहले से सूफ़ीमत के केन्द्र रहे हैं। परन्तु अन्य इस्लामी देशों ने भी इस मत के विकास में विशेष योग दिया। मिस्र के जूलनून और स्पेन के अरबी ने इस दिशा में महत्वपूर्ण काम किया है। ये दोनों वर्षों बगदाद में रहे थे और अरबी ने तो कदाचित् ७-८ वर्ष भारत में बिताये। उन्होंने एक योगी की सहायता से 'अमृतकुंड' के अनुवाद का संशोधन भी किया था जिसे अमीदी ने 'मिरातुलमानी' के नाम से कुछ पहले तैयार किया था। अरबी का आविर्भाव काल १२१२ ई०—१२५२ ई० है। अरबी ने तसव्वुफ़ में 'वहदतुलवजूद' का प्रतिपादन किया और सिद्ध सूफ़ियों में वह प्रसिद्ध अद्वैतवादी सिद्ध हुआ। अरबी के बाद 'जिली' का नाम आता है। यह कुछ दिनों काशी में भी रहे। इन्होंने तसव्वुफ़ में 'इंसाने कामिल' की प्रतिष्ठा की और मुहम्मद साहब को 'इंसानुलकामिल' (पूर्ण पुरुषोत्तम) सिद्ध किया। जिस तरह शंकर के अद्वैत पक्ष का खंडन रामानुज ने किया था उसी तरह अरबी के पक्ष का खण्डन जिली ने किया। जिली के बाद तो अनेक सूफ़ी भारतवर्ष में आकर बस गये और उन्होंने अनेक सूफ़ी-संप्रदाय प्रतिष्ठित किये।

२

इस्लामी सूफ़ीमत का विकास

६३२ ई० में मुहम्मद साहब की मृत्यु हो गई। सूफ़ियों का कहना है कि मुहम्मद साहब ने स्वत: गुह्यता के कारण सूफ़ीमत का प्रचार नहीं किया। उन्होंने इसकी शिक्षा अली को दी। अली की मृत्यु-तिथि ६६० ई० है। जान पड़ता है, अली अच्छे भक्त थे। वे इस्लाम का संचालन बहुत समय तक नहीं कर सके। ६६० ई० में उनका वध कर दिया गया और उम्मैया वंश ने शासन आरम्भ किया। इसका शासन काल ६६१-७४९ ई० है। ६८० ई० में करबला की प्रसिद्ध घटना हुई और अली के दोनों पुत्र हसन-हुसैन बलि को प्राप्त हुए। अली की इमामत को लेकर मुसलिम जगत में जो तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए थे, उन्हें लेकर अनेक पंथ चल पड़े। खलीफ़ाओं की इस्लामी सलतनत सीरिया से सिंध तक फैल गई थी और इस्लाम अनेक प्रौढ़ धर्मों के संपर्क में आ गया था। शीघ्र ही बसरा में एक "मोतजिली" नाम के एक बुद्धिवादी संप्रदाय का जन्म हो गया जिसका नेता हसन (मृ० ७२८ ई०) था। 'मोतजिली' मतवाद हमारे यहाँ के संतमतवाद से मिलता-जुलता है। इसे ज्ञानाश्रयी भक्तिवाद कहा जा सकता है। उसमें अभी मादनभाव का मिश्रण नहीं हुआ था। हसन की मृत्यु के बाद ईरान में सूफ़ीमतवाद की इतनी प्रबल लहर उठी कि सारा इस्लामी जगत उसकी हिलोरों में डूबने-उतराने लगा। वस्तुत: इस्लामी सूफ़ीमतवाद का विशेष विकास ८वीं-९वीं

शताब्दी में ही हुआ। इसका श्रेय राबिया (मृ० ७५२ ई०) और उसकी सहेलियों और मंसूर को मिलना चाहिये। राबिया दासी थी और वह अपने को अल्लाह की पत्नी समझती थी। मीरा और अंडाल जिस तरह अपने को कृष्ण की दुलहिन समझती थीं उसी तरह राबिया और उसकी सखियाँ अपने को अल्लाह की दुलहिन समझती थीं। इन भक्त महिलाओं की तरह राबिया कहती है—

"हे नाथ ! तारे चमक रहे हैं, लोगों की आँखें मुँद चुकी हैं, सम्राटों ने अपने द्वार बंद कर लिये हैं, प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकांत-सेवन कर रहा है, और मैं यहाँ इकेली आपके साथ हूँ।" (राबिया द मिस्टिक, पृ० २७) "हे नाथ, मैं आपको द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो यह मेरा स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कामना नहीं करती, दूसरे यह मेरा परमार्थ है कि आप मेरे परदे को मेरी आँखों के सामने से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार कर आपकी सुरति में निमग्न हूँ। किसी भी दशा में इसका श्रेय मुझे नहीं मिल सकता। यह तो आपकी कृपाकोर का प्रसाद है।" (ए लिटरेरी हिस्टरी आव द अरब्स, पृ० २१४) अन्य सूफ़ी कवियों की तरह रसूल में आस्था रखती हुई भी राबिया अद्वैत ब्रह्म को ही अपने मादनभाव का आलंबन मानती है—"हे रसूल। भला ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे आप प्रिय न हो। पर मेरी तो दशा ही कुछ और है। मेरे हृदय में परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमें उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं है।" (वही, पृ० १३४) राबिया और उसकी सहेलियों को शरियत विरुद्ध भावनाओं के प्रकाशन के लिए बड़ा कष्ट सहना पड़ा। मरजा के हाथ-पैर काटे गये। इन संत-महिलाओं ने रसूल (मुहम्मद) की मधुर उपेक्षा की और

सारे जीवन को परमेश्वर के प्रेम से प्लावित कर दिया। इनके उद्गारों में जहाँ प्रेम का पुनीत दर्शन है, जहाँ भावना का दिव्य विलास है, वहाँ वेदना का भी प्राचुर्य है। संयोग-वियोग के जिस प्रकार के चित्र सिद्धों और संतों की कविताओं में मिलते हैं, उस प्रकार के चित्र यहाँ भी मिलते हैं। हो सकता है कि मनोविज्ञान के इस युग में हम यह सिद्ध कर दें कि इन महिलाओं की प्रेम-भावनाओं का मूल स्रोत वस्तुतः वासनात्मक था, परन्तु इससे उन पर कोई लांछा नहीं आती। उन्होंने अपनी वासना को परलोकोन्मुख किया और सहस्रों-सहस्रों हृदयों में शांति और सुख का संचार किया। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की उत्कट प्रेम-भावना मूल रूप में इस्लामी नहीं है। ईसा की पहली शताब्दी से भी पहले अलवारों, शैवों, बौद्ध महायानियों में इस प्रकार की प्रेम-साधना चली आती थी और ईरान और अरब इससे भली-भाँति परिचित थे। आठवीं शताब्दी में इसी प्रेम-साधना ने इस्लाम के अंतर्गत सूफ़ी-साधना का रूप ग्रहण किया।

सातवीं-आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म पूर्णरूप से व्यवस्थित नहीं हुआ था। अनेक संप्रदाय उठ खड़े हुए थे। क़ुरान, हदीस, ईमान, कर्म, भाग्य, न्याय, रसूल लगभग सभी विषयों पर विवाद चल पड़े थे। अलग-अलग मत गढ़े जा रहे थे। अंत में उसमान के समय (६४४—५६ ई०) में क़ुरान को निश्चित रूप प्राप्त हो गया और उसमें कुछ भी परिवर्तन करना असंभव हो गया। खलीफाओं ने अनेक मतवादों के प्रति असहिष्णुता दिखलाने की चेष्टा की। अतः नये संप्रदाय क़ुरान की मान्यता से आगे नहीं बढ़ सकते थे। अब शब्दशक्ति पर अधिक ध्यान देकर अभिधा के स्थान में लक्षणा से सहारा लिया जाने लगा। मोवज्जिला संप्रदाय ने पहले-पहल क़ुरान की नई व्याख्या की।

चाहे इस संप्रदाय ने किसी विशिष्ट दर्शन या मतवाद को जन्म नहीं दिया, परन्तु इसने इस्लामी चिंता को झकझोर दिया, इसमें संदेह नहीं। मुर्जी, खारिजी, क़ादिरी आदि कई दल उठ खड़े हुए। ७वीं-८वीं शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण सूफ़ी संत इब्राहीम और दाऊदताई हैं। इनमें अनुराग (प्रेमभाव) की अपेक्षा विराग ही अधिक था, परंतु लौकिक प्रेम (इश्के हकीकी) को पारलौकिक प्रेम (इश्के मजाजी) का प्रतीक मानकर चलने की चाल पड़ गई थी। वास्तव में उस समय सारे पूर्व में निर्गुण-वाद की धारा बह रही थी। नवीं शताब्दी के मध्य में भारत के शंकराचार्य और मोतज़िलियों (बसरा) को अलअल्लाफ़ ईश्वर को अद्वैत और निर्गुण मानते हैं, उसे निर्विशेष कहते हैं। नज़ाम (मृ० ८४५ ई०), जहीज़ (८६९ ई०), मुअम्मर (९०० ई०) और वस्री (९३३ ई०) ने मोतज़िलियों की चिंता-परम्परा आगे बढ़ाई। मोतज़िलियों की दार्शनिक स्वतंत्रता के विरुद्ध इसी समय करामी और अशअरी संप्रदाय भी उठ खड़े हुए।

सबसे पहले सूफ़ी की उपाधि अबू-हाशिम (७७० ई० के लगभग मृत्यु प्राप्त) को मिली। इसके बाद राबिया (मृ० ७५८ ई०) और उसकी सहेलियाँ और मंसूर (मृ० ७८४ ई०) आते हैं। उस समय मुलतान तसव्वुफ का केन्द्र बन गया था। अनेक बौद्ध इस्लाम धर्म क़बूल कर चुके थे। वीर कौलों (तांत्रिक बौद्धों) का भी प्रभाव पड़ रहा था। पश्चिम के मसीही भक्तिभाव से भी इस्लामी अछूते नहीं रह सके। मंसूर का गुरु जुनैद था (मृ० ९०९ ई०)। वह बाहर से कट्टर मुसलमान बना रहता था, परंतु भीतर-भीतर गुह्यज्ञान (मादन-भाव) का प्रचार करता था। परन्तु मंसूर (हल्लाज) शतशः प्रेमीजीव था। इसी से शरियत के उपासक उसके प्राणों के ग्राहक हो गये। हल्लाज

(मृ० ९२१ ई०) को अनेक यातनाएँ झेलनी पड़ीं। 'अनलहक़' कह कर उसने ब्रह्मवाद के "तत्त्वमसि" की बात दुहराई। 'अहं ब्रह्मास्मि' की प्रेरणा उसे अवश्य भारत से मिली होगी। वह कहता है—"मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ, जिसे प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर में दो प्राण हैं। यदि तू मुझे देखता है तो उसे देखता है और यदि उसे देखता है तो हम दोनों को देखता है।' सूफ़ियों के अनेक सिद्धांत मंसूर (हल्लाज) से ही आरम्भ होते हैं। उसी ने 'हुलूल', 'लाहूत', 'नासूत', 'नूर मुहम्मदी', 'अत्र' और 'अनलहक़' की व्यवस्था की।

इसके बाद फाराबी (मृ० ९५०), अबूसईद (मृ० १०१९ ई०) और इमाम ग़ज़ाली (मृ० १११ ? ई०) के नाम आते हैं। फ़राबी ने क़ुरान एवं दर्शन का समन्वय कर सूफ़ीमत का मार्ग स्वच्छ किया। सईद ने 'समा' (समाधि) की व्यवस्था की। वह कहता था कि समा विषय-वासना के नाश के लिए उपयुक्त साधन है। सईद अत्यंत ऊँची श्रेणी के शासक थे और उनकी साधना और उनके व्यक्तित्व ने सूफ़ी मत को अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया। परन्तु कट्टर इस्लामी अब भी सूफ़ीमत को इस्लामधर्म के विरुद्ध मानते थे। सूफ़ी भले ही अपने मत को इस्लाम-प्रतिपादित अथवा मुहम्मद साहब की थाती कहें, क़ाज़ी और मुल्ला उन्हें 'जिंदीक' (नास्तिक) कह कर फ़तवा दे सकते थे। वास्तव में इस्लाम और सूफ़ीमत का संघर्ष अरब और ईरान एवं आर्य और शामी संस्कृतियों का संघर्ष था। सूफ़ियों की लोकप्रियता बढ़ रही थी। अनेक खानकाह बन चुके थे और 'नबी' की भाँति सूफ़ी भी पूजे जाने लगे थे। ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो इस्लाम और सूफ़ीमत के इस विरोध को मिटा दे। इस्लाम और सूफ़ीमत का समन्वय इमाम गज़्ज़ाली (मृ० ११११ई०) ने किया। उसके

प्रयत्न से तसव्वुफ़ इस्लामी दर्शन बन गया। शामी मतवाद में प्रेम के संयोग-वियोग पक्षों का समावेश हो गया। गज़्ज़ाली ने धर्म, दर्शन, समाज और भक्तिभावना का समन्वय किया। इससे इस्लाम को पुष्टि ही मिली। गज्ज़ाली के काम को जिली, अरबी और रूमी जैसे महान् सूफियों और कवियों ने आगे बढ़ाया। अन्य प्रसिद्ध सूफ़ी करावी (मामून रशीद के समय ई० सन् ८३० के लगभग), जुलनून (मृ० ८५७ ई०) और मजीद (मृ० ८७४ ई०) है। वास्तव में राबिया और मंसूर के समय से गज्ज़ाली के समय तक चार सौ वर्ष तक इस्लाम के भीतर ही सूफ़ीमत का विकास होता रहा।

३

भारत में सूफ़ीमत

दक्षिण भारत के लोग मुसलमीन दरवेशों (साधुओं) और सूफ़ियों से बहुत पहले परिचित हो चुके थे। उमर के समय (६४२-६४४ ई०) में थाणा मुसलमानों (अरबियों) के शासन में आ गया परन्तु फिर भी कई शताब्दियों तक विदेशी मुसलमान सत्ता भारत के द्वार पर सिर टकराती रही। मुसलमानों की प्रगति इन तिथियों से स्पष्ट है—आलोर (७१२ ई०), मुलतान (७१३ ई०), लाहौर (१०२३ ई०) दिल्ली और अजमेर (११६१ ई०), कन्नौज (११६३), गौड़ और नवद्वीप (११६६), मिथिला (१३५१ के बाद), मालवा (१२६५ के बाद) कालिंजर (१५४५ ई०) और गुजरात (१२६७), यह स्पष्ट है कि आठवीं-नवीं-दशवीं शताब्दी में बाहरी प्रभाव इतने प्रबल नहीं थे। देश का राजदंड सशक्त था। जो धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन इन तीन शताब्दियों में उठे, वे देश की जागरूक शक्ति के प्रमाण थे। परन्तु धीरे-धीरे एक युद्ध-व्यवसायी समाज का जन्म हो गया था। सामंत धीरे-धीरे विलासी हो गये। नवीं-दसवीं शताब्दी तक हमारा राजनैतिक संगठन इतना दृढ़ था कि विदेशियों की दृष्टि पड़ना कठिन बात थी। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में उत्तर भारत आधे दर्जन छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया। ये छोटे-छोटे राज्य लड़ने-झगड़ने और झूठी प्रतिष्ठा को ही अपना जीवन-व्रत समझने लगे। फल यह हुआ कि इस

आंतरिक कलह से लाभ उठा कर विदेशी आक्रमणकारियों ने भारतभूमि की ओर मुँह किया। सोमनाथ (१०२७ ई०) और मथुरा (१०२२ ई०) तक मुसलमानों के आक्रमण ११ वीं शताब्दी में हो चले थे, परन्तु राजपूत सामंत आपस में लड़ते रहे। इन शताब्दियों में धर्म, दर्शन, काव्यशास्त्र, पुराण (इतिहास) और काव्य की बड़ी-बड़ी उड़ानें भरी गईं। परन्तु जान पड़ता है जिस वर्ग के हाथ में शक्ति थी वह सामंत वर्ग इन्हें केवल मनोविनोद की वस्तु समझने लगा था। राष्ट्र का जीवन धीरे-धीरे क्षीण होता जाता था।

इस्लाम धर्म उत्तर भारत में सातवीं-आठवीं शताब्दी में आया। पहले यह साधु-संतों, पीरों, सूफ़ियों और अल्लाहवाले गृहस्थों के रूप में इस देश की जनता द्वारा आश्चर्य और श्रद्धा का विषय बना। ग्यारहवीं शताब्दी में पहली बार उसके विद्रोहात्मक रूप के दर्शन हुए। अब तक पश्चिमी प्रदेश में इस्लामधर्म के मानने वालों और श्रद्धालुओं के अनेक उपनिवेश बन गये थे। १०८३ ई० में लाहौर में गज़नी राज्य की स्थापना होने के बाद धर्मपरिवर्तन विशेष रूप से महत्वपूर्ण होने लगे परन्तु दो-सौ तीन-सौ वर्षों तक इस्लाम का विशेष प्रचार नहीं हो सका। ११९७ ई० के आस-पास बख्तियार खिलजी ने पूर्व भारत के बौद्ध विहारों और नालंदा जैसे विद्यालयों को भूमिसात किया। बौद्ध नास्तिक थे। अल्लाहवाले धार्मिक मुसलमान इनसे विशेष रूप में चिढ़े थे। इसी से पूर्वी प्रदेश में बहुत बड़ी संख्या में लोग बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये।

परन्तु यह निश्चित है कि मुसलमान सूफ़ी साधक ७१३ ई० के लगभग ही मुलतान पहुँच गये थे। लगभग तीन शताब्दियों तक पंजाब और सिंध सूफ़ियों के केन्द्र बने रहे और सूफ़ीमत

के निर्माण में इन प्रदेशों का विशेष महत्व रहा। यहीं वेदांत, गोरखनाथी हठयोग, हीनयानी बौद्ध (सिद्ध) मत और इस्लामी सूफ़ीमत में परस्पर विचारों का विनिमय हुआ। धीरे-धीरे ये सूफ़ी साधक सारे भारतवर्ष में फैल गये। यह सारा युग भक्ति के उत्थान का युग था। अतः भक्तिपरक इस्लामी सूफ़ी साधना का जनता ने कभी विरोध नहीं किया। ये सूफ़ी साधक स्वयं भारतीय साधना के प्रति सहिष्णु थे। वेशभूषा में सिद्धों, जोगियों, दण्डी-वैरागियों और इन मलिंगों (सूफ़ी-साधकों) में कोई विशेष अंतर नहीं था। मसूदी (१०४५-११२१ ई०), मुईनउद्दीन चिश्ती (११४२ ई०), कुतबुद्दीन काकी, फ़रीद शकरगंज (११७३-१२६५), शेख चिश्ती (१२६१ ई०), निजामउद्दीन औलिया (१२३५ ई०), अली क़लन्दर (मृ० १३४३ ई०), ख़ुसरो (१२५३-१३२५), शरफ़ुद्दीन अहियां मुनीरी (१२६३-१३८०) और बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृ० १३३७) इस युग के महत्वपूर्ण सूफ़ी साधक हैं। १००० ई० के बाद हिंदी प्रदेश इन सूफ़ी साधकों से परिचित होने लगा था, यद्यपि इनके मुख्य क्षेत्र सिंध, पंजाब, दिल्ली, मुलतान और अजमेर थे। इन सूफ़ी साधकों ने हिंदवी नाम की एक मिली-जुली भाषा में अपनी विचारधारा का प्रचार किया। धीरे-धीरे इनकी शिष्य-परंपरा बढ़ी और ये सारे उत्तर भारत और दक्षिण भारत में फैल गये।

भारत में आने से पहले सूफ़ियों का अपना एक साहित्य चल पड़ा था। वह बराबर बनता रहा। मुसलमानों के शासन-काल में ईरानी संस्कृति और साहित्य भारत में बराबर आते रहे। इस प्रकार यह साधक फ़ारसी-सूफ़ियों की सद्यः विकसित भावनाओं से बराबर परिचित होते रहे। परंतु भारतीय धार्मिक वातावरण दार्शनिक चिंतन और साहित्य का भी इनपर प्रभाव पड़ा।

४

हिन्दी सूफ़ी काव्य

हिंदी सूफ़ी काव्य दो भाषाओं में हमारे सामने आता है। 'हिंदवी' और 'हिंदी' (अवधी) ये दो भाषाएँ हैं। 'हिन्दवी' भाषा और साहित्य का इतिहास महत्त्वपूर्ण है। गुप्तकाल (३१६ ई०—४६८ ई०) में उत्तरी भारत में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश और महाराष्ट्री भाषाएँ चल रही थीं और परस्पर व्यवहार के द्वारा इन भाषाओं के सामान्य रूपों को लेकर एक सामान्य भाषा ने जन्म लिया। सातवीं शताब्दी में राजपूत-गुर्जर सामंतों में इस भाषा का बहुत प्रचार हुआ और अनेक राजपूत गुर्जर ध्वनियों का समावेश हो गया। इस भाषा को अभी कोई नाम नहीं दिया गया है परंतु चंद की 'षट्भाषा' का बहुत कुछ ढाँचा इस भाषा पर खड़ा होगा। राजपूतकाल (६०० ई०—१२००) में यह भाषा सारे उत्तर भारत और दक्षिण में कोंकन प्रदेश तक सामान्य आदान-प्रदान की भाषा रही होगी। इसे हम प्राचीन हिंदवी या प्राचीनतम खड़ी बोली कह सकते हैं। और ख़ुसरो (१२५३ ई० १३२५ ई०) ने अपने समय की उत्तर-भारत की भाषाओं में लाहौरी और दिल्ली और उसकी आस-पास की भाषाओं का उल्लेख किया है। मुसलमानों के आने तक इस सामान्य भाषा का कोई साहित्य नहीं था। वह सामान्य बोलचाल की भाषा-मात्र थी। यह सामान्य भाषा लाहौर, मुलतान और दिल्ली की भाषाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती रही होगी। ग्यारहवीं शताब्दी तक पंचनद प्रदेश में

इस्लाम धर्म का काफ़ी प्रचार होगया था और हीनवर्ण हिन्दू इस नये धर्म को बड़ी संख्या में अपनाने लगे थे। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्यधारा' में मुलतान के जुलाहे हिंदी कवि अब्दुर्रहमान (१०१० ई०) का उल्लेख किया है। अब्दुर्रहमान (१०१० ई०) से कुतवन (१४६३ ई०) तक की प्रायः पाँच शताब्दियों में हम किसी मुसलमान हिंदी कवि की रचना नहीं पाते।

परन्तु इन ५०० वर्षों में मुसलमान राजपूत-गुर्जर सामान्य भाषा (हिंदवी) को लेकर थोड़ी-बहुत साहित्य-रचना अवश्य कर रहे थे, इसके समर्थन के लिए प्रमाण ढूँढना कोई कठिन काम नहीं है। जैसा राहुल जी ने लिखा है, हिन्दुस्तान की खान से पैदा हुए सभी मुसलमानों के लिए अरबी-फ़ारसी का पंडित होना संभव नहीं था। अतः वे सामान्य बोलचाल की भाषा की ओर झुके और उसी में उन्होंने इस्लाम मत का प्रचार किया। इस नई भाषा को अपनाने में काफ़ी समय लगा। इसी से हिंदवी काव्य महमूद ग़ज़नवी की विजयों के बहुत बाद शुरू होता है। डा० मोहन सिंह के अनुसार 'हिंदवी कविता' का समय १७३६ ई०—१५८० ई० है। इस हिंदवी कविता के अनेक कवियों की रचना अब उपलब्ध हो गई हैं। इन कवियों की तीन श्रेणियाँ हैं :

(१) फ़ारसी के महत्वपूर्ण कवि, परन्तु हिन्दी की रचना मन बहलाव के लिए करते थेजैसे मसूद और खुसरो।

(२) सूफ़ी कवि जैसे फ़रीद शकरगंजी

(३) 'पीर' कवि जिनका मुख्य उद्देश्य इस्लाम का प्रचार था जैसे सैयद मुहम्मद गैसूदराज बन्दानवाज (मृ० १४८१, दकन)। ये लोग अरबी-फ़ारसी के विद्वान थे और वे धर्मप्रचार

के लिए लोक-भाषा में रचना करते थे। लाहौर, दिल्ली और मुलतान इन दिनों मुसलमान धर्म-प्रचारकों के केन्द्र थे और यह हिंदी का काव्य इन्हीं केन्द्रों से संबंधित है।

यह हिंदवी काव्य नाथपंथियों और संतों के काव्य से बहुत भिन्न नहीं है। भाषा में अंतर केवल इतना है कि हिंदवी काव्य में अरबी-फ़ारसी के शब्द अधिक मात्रा में प्रयोग में आये हैं। दोनों का विषय धर्म है। हिंदवी काव्य में हिंदी छंदों का ही प्रयोग हुआ है। उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ भी भारतीय परंपरा से ली गई हैं। योग, वेदान्त और आत्मबोध-संबन्धी हिंदी और संस्कृत शब्दों का प्रयोग खूब रहा है। अरबी-फ़ारसी शब्द तद्भव रूप में आते हैं और शब्दों के प्रयोग में कवि स्वतंत्रता से पूर्णतः काम लिया जाता है। शैली भी भारतीय है। कहीं प्रश्नोत्तर से काम लिया गया है, कहीं कहानी से, कहीं भट्ट भणंत से। सूफ़ी विचारधारा के भारतीय रूप के विकास के लिए हमें इस साहित्य का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। बाबा फ़रीद की हिंदवी कविताओं को आदिग्रन्थ (१६०६ ई०) में महत्वपूर्ण स्थान मिला है। इससे इस कविता के महत्व का पता चलता है। इनके बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण सूफ़ी बंदानवाज़ गेसूदराज़ (१३१८-१४२१) हैं। सूफ़ी साहित्य में इनके हिंदवी ग्रंथ मैराजुल आशक़ीन (१३९८) का बड़ा महत्व है।

जैसा हम पहले बता चुके हैं, मुसलमानी सूफ़ी संतों का आगमन विदेशी आक्रमण के पहले ही हो गया था, परंतु राज-सत्ता स्थापित हो जाने के बाद उन्हें विशेष प्रश्रय मिला। मूल मुसलमानी धर्म 'तौहीद' (एकेश्वरवाद) का प्रचारक है। "ला इलाही इल्लाह मोहम्मद रसूल अल्लाह।" परंतु यह एकेश्वरवाद भारतीय अद्वैतवाद से भिन्न है। अद्वैतवाद में जिस प्रकार जीव और ब्रह्म की अविच्छिन्न एकता की कल्पना की

गई है, उस तरह की बात यहाँ नहीं है। वहाँ खुदा, रसूल और इन्सानों की अलग-अलग सत्ता है। वास्तव में रसूल ईश्वर से अधिक निकट विशिष्ट मानव है जिसके माध्यम से साधारण जीव खुदा तक पहुँचता है। यह एक प्रकार से 'द्वैत' हुआ, यद्यपि मुसलमान विचारक इस बात को यों स्वीकार नहीं करते। जब फ़ारस पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया और सारी जनता मुसलमान हो गई, तो इस्लाम पूर्णरूप से शुद्ध भी नहीं रह सका। फ़ारस में जो धर्म प्रचलित था, वह आर्य ही था, अतः मौलिक रूप से भावप्रवण था। नवमुसलिमों में एक गिरोह ऐसा उठ खड़ा हुआ जो खुदा और इन्सानों को वहदत (एकता) को मानता था। इसका दृष्टिकोण बहुत कुछ विशिष्टाद्वैतवादियों जैसा था। संभव है उस पर वेदांत का प्रभाव हो। कट्टर मुसलमान उसे 'बेशरा' (शरियत या इस्लाम धर्मशास्त्र के विरुद्ध) मानते हैं। इसलिए सूफ़ियों में एक दल ऐसा भी उठ खड़ा हुआ जो इस्लामी धर्मशास्त्र को दृष्टि में रखता हुआ उपासना करता था। उन्हें कट्टर मुसलमानों ने भी स्वीकार कर लिया और 'बाशरा' (शरियत के अनुरूप) कहा।

शुरू-शुरू में सूफ़ी साधक सिंध और पंजाब में आकर बसे थे। यह वह समय था जब भक्ति का अविर्भाव हो चुका था और वह धीरे-धीरे एक जन-आंदोलन का रूप धारण कर रही थी। सूफ़ियों की प्रेम-मूलक धारणा भक्ति से मेल खाती थी, अतः वह जन-समाज में अपने साधना के बल से पैठ गये। अनेक हिन्दू उनपर आस्था रखने लगे। इन सूफ़ियों में मुईन-उद्दीन (११४२ ई०), क़ुतुबुद्दीन करकी, फ़रीद शकरगंज (१२०० ई०), शेख़ चिश्ती (१२६१ ई०), निज़ामुद्दीन ओलिया (१२३५ ई०), सलीम चिश्ती (१५१२ ई०) और मुबारिक नागोरी (१५१० ई०) प्रसिद्ध हैं। धीरे-धीरे इनकी

शिष्य-परंपरा बढ़ी और यह सारे उत्तर और दक्षिण भारत में फैल गये। भारत में आने से पहले सूफ़ियों का एक अपना साहित्य चल पड़ा था। वह बराबर आता रहा। मुसलमानों के शासनकाल में ईरानी संस्कृति और साहित्य भारतवर्ष में बराबर आते रहे। इस तरह साधक फ़ारसी सूफ़ियों की सद्यः-विकसित भावनाओं से बराबर परिचित होते रहे। परन्तु भारतीय धार्मिक वातावरण, दार्शनिक चिंतन और साहित्य का भी इन पर प्रभाव पड़ता रहा।

हिन्दी साहित्य में सूफ़ी-साधना दो भाषाओं में व्यक्त हुई। (१) हिन्दी या खड़ी बोली (व्रज, पंजाबी, दकनी और अन्य प्रांतीय बोलियों से मिश्रित), (२) अवधी। खड़ी बोली में सूफ़ी साहित्य फुटकर पदों, दोहों और गज़लों आदि के रूप में रखा गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुईं। पूर्वी हिन्दी प्रदेश में अवधी के माध्यम द्वारा यह प्रकाश में आईं। दोनों भाषाओं में "मसनवी" (कथात्मक) साहित्य की रचना हुई। परंतु खड़ी बोली की मसनवियां "दकनी" (फ़ारसी और व्रजभाषा मिश्रित खड़ी) में है और उनपर भारतीय कथापद्धति और काव्य का उतना प्रभाव नहीं है, जितना पूर्वी साधकों की अवधी कथाओं में जान पड़ता है। जो कथाएँ इन साधकों ने पदबद्ध कीं, वे मौलिक रूप से भारतीय थीं और जनसाधारण में लोककथाओं के रूप में चली आ रही थीं। उन्होंने उनके प्रभाव को समझ कर उन्हें अपने भावों के प्रचार का साधन बनाया होगा।

हिन्दवी और दकनी सूफ़ी साहित्य

१४०० ई० तक मुलतान और लाहौर मुसलमान सूफ़ी संतों के केन्द्र बने रहे और इन्हीं केन्द्रों में हिंदवी सूफ़ी-साहित्य का

जन्म हुआ। उत्तरी भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषाओं का मेल-जोल सुवक्तगीन ग़ज़नवी के समय से ही आरंभ हो गया था। लाहौर की विजय के बाद ग़ज़नवी फ़ौज में हिंदू सैनिक भी रहने लगे थे। इसी तरह हिंदू राजाओं के यहाँ मुसलमान फ़ौजें और सिपहसालार नौकर थे। इस तरह नई परिस्थितियों के कारण स्थानीय भाषाओं में अरबी, फ़ारसी, तुर्की के सैकड़ों शब्द आ गये। सत्रहवीं शताब्दी में भाषा का इतना बाहुल्य होगया था कि रासो के वर्तमान रूप में हजारों ऐसे शब्द आये हैं। ग़ज़नवी राजदरबार में हिंदू राजपूत बराबर आते-जाते रहते थे और इसी समय अफ़ग़ान मुसलमान हज़ारों-लाखों की संख्या में पंजाब में आ बसे। इनकी उपस्थिति का भाषा पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। ये मुसलमान पंजाबी, हिंदवी, मिली फ़ारसी बोलते होंगे। १३वीं शताब्दी में लाहौर के मुसलमान कवि मासूद साद सलमा ने एक हिन्दी दीवान (कविता-संग्रह) छोड़ा है, इसका उल्लेख मिलता है। इस मिश्रित भाषा में सबसे पहली उपलब्ध रचना सिंध में लिखी गई। आज यह अरबी, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी की अजीब खिचड़ी जान पड़ती है। दैनिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक मेल-जोल के साथ-साथ देशी और विदेशी भाषाओं में आदान-प्रदान बढ़ा। धीरे-धीरे लोग ऐसी ज़ुबान बोलने लगे, जो हिंदू और मुसलमान दोनों की समझ में आ सकती। यह जन-भाषा हिंदी थी। इसमें क्रिया, कारक इत्यादि सब हिंदोस्तानी हैं—अरबी-फ़ारसी की संज्ञाएं। परंतु इनकी संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी। लगभग २०० वर्ष तक यह नई ज़बान लाहौर में पनपी। जब ११४२ ई० में मुसलमानों ने चौहानों पर विजय प्राप्त कर ली तो दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली और ब्रजभाषा से इस मिश्रित भाषा का संपर्क हुआ। पूर्वी पंजाब की बाँगडू और हरियानी

भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा। इस मिश्रित नई भाषा (हिंदवी) का पहला प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो (१२५३-१३२५) है। ख़ुसरो का अधिकांश सूफ़ी काव्य फ़ारसी में है।

१४०० ई० के बाद हिंदवी भाषा और साहित्य का विशेष रूप से विकास हुआ। इस समय इस भाषा का मुख्य केन्द्र दक्षिण था और यह दकिनी नाम से प्रसिद्ध थी। इस युग का भी मुख्य साहित्य आध्यात्मिक (सूफ़ी) है। इसके रचयिता प्रसिद्ध पीर या सूफ़ी हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं सैयद मुहम्मद गैसूदराज़ बन्दानवाज़ (मृत्यु० १४२१ ई० दकन) बाबा फ़रीद (१६०६ ई०, पंजाब), शाह मीरान जो शमसुल उश्शाक़ (मृ० १४६१), शाहबुरहान (मृ० १५८२ ई०), अमीनुद्दीन आला (१५८२-१६७५), और मुहम्मद क़ुली क़ुतबशाह (१५८०-१६११)। १२वीं शताब्दी ईसवी में दकन इसलामी सूफ़ी कवियों का केन्द्र बन रहा था और साधारण जनता में उनकी विशेष मान्यता थी। इन सूफ़ी संतों का भाषा और साहित्य पर कई शताब्दियों तक प्रभाव रहा। मलिक काफ़ूर (१२९४-१३११), मुहम्मद तुग़लक़ (१३३६) और हसनगंगू की विजयी सेनाओं के साथ हिंदवी भाषा और संस्कृति और उत्तर का सूफ़ी साहित्य दक्षिण पहुँच गया था। कबीर के समय (मृ० १३९८ ई०) तक हिंदी भाषा में भी सूफ़ी साहित्य की काफ़ी रचना हो चुकी थी। स्वयं कबीर के साहित्य में सूफ़ी भावना सैकड़ों पदों में प्रकाशित हुई है।

दकनी के सूफ़ी-काव्य में हमें उसी 'प्रेम की पीर' के दर्शन होते हैं जो जायसी आदि हिंदी सूफ़ियों में मिलती है। यह सूफ़ी काव्य विशेषतयः मसनवियों (प्रेम-कहानियों) के रूप में मिलता है। मसनवियों में लौकिक प्रेम की कहानी को पारमार्थिक प्रेम के रूपक के रूप में ग्रहण किया गया है। परंतु १४००—१६००

तक 'खुशनाम' और 'खुशनाज' (शाह मीरानजी की कृतियाँ) नाम को मसनवियों को छोड़कर और कोई महत्वपूर्ण रचना प्रकाश में नहीं आई। इन मसनवियों में भी रूपक अत्यंत शिथिल है। जायसी आदि कवियों का काव्य 'हिंदी मसनवियाँ रही है। इस दृष्टि से इन प्रारंभिक मसनवियों का अध्ययन थोड़ा बहुत महत्व अवश्य रखता है। दकन का यह सूफ़ी-साहित्य हिंदी भाषा के विकास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसमें हिंदी मुहावरे, हिंदी शब्द, हिंदी साहित्य-परंपरा, हिंदी भाषा सब अपने विकृत रूप में मिलते हैं। १६०० ई० तक दकनी में जो साहित्य बना वह एकदम धार्मिक हैं। इसे सूफियों और पीरों का साहित्य कहना चाहिये। अधिकांश साहित्य गद्य में है जो खड़ी बोली गद्य के विकास के अध्ययन के लिये महत्व-पूर्ण है परंतु पद्य भी कम नहीं है। इस धार्मिक साहित्य में साहित्यिकता की मात्रा बिलकुल नहीं हो, यह बात नहीं। हाँ, मूल प्रेरणा धार्मिक है, लक्ष्य प्रचार या साधना ; अतः साहित्य अधिक नहीं है। इस धार्मिक साहित्य की परंपरा में सबसे महत्वपूर्ण नामशाह बुरहान के पुत्र अमीनुद्दीन आला (१५८२—१६७५) का है।

अवधी सूफ़ी काव्य

अवधी में सब से पहला सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य मुल्ला दाऊद की नूरक और चंदा की प्रेमकथा है। इसका रचना-काल सं० १३७५ (१३१८ ई०) है। इसके बाद और भी कई प्रेम-कथाएँ लिखी गईं परंतु उनमें से सब उपलब्ध नहीं हैं। जायसी ने पद्मावत में सपनावती, मुग्धावती, मृगावती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख किया है :—

विक्रम फँसा प्रेम के बारा।
सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधुपाछ मुगुधावति लागी।
गगन पूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर वेचनपुर गयऊ।
मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधु कुँवर खंडरावत जोगू।
मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावती कहँ सुरसरि साधा।
ऊषा लगि अनिरुध वर बाँधा॥

इनमें से केवल दो मृगावती और मधुमालती प्राप्त हो सकती हैं। मृगावती के लेखक कुतबन हैं। मधुमालती के मंझन। कुतबन का समय १२६३ ई० है। मंझन के समय के विषय में कुछ पता नहीं चलता। इसके बाद मलिक मोहम्मद जायसी का पद्मावत आता है। पद्मावत का रचनाकाल १५२३ ई० है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सूफ़ी रूपकात्मक प्रेम-कथाओं की परंपरा जायसी

---

* इसमें ऊषा-अनिरुद्ध की कहानी तो पौराणिक है, शेष कथाएँ निश्चय ही सूफ़ी-साहित्य की संपत्ति हैं। जायसी ग्रंथावली की भूमिका में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—इनमें मृगावति की एक खंडित प्रति का पता नागरी प्रचारिणी सभा को लग चुका है। मधुमालती की भी फ़ारसी अक्षरों की लिखी हुई एक प्रति मैंने किसी सज्जन के पास देखी पर किसके पास, यह स्मरण नहीं है। चतुर्भुज दास कृत 'मधुमालती' की कथा नागरी प्रचारिणी सभा को मिली है जिसका निर्माण काल ज्ञात नहीं है। 'मुगुधावती' और 'प्रेमावती' का पता अब तक नहीं लगा है।

बहुत पहले चल पड़ी थी। जायसी की लोकप्रियता ने इस , को प्रोत्साहन दिया। उनके बाद कई प्रेमाख्यान लिखे गये और यह परंपरा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक चली। पद्मावत के बाद उसमान ने चित्रावली (१६१३ ई०) लिखी। १६१९ में शेख नवी ने ज्ञानदीपक लिखा। १७३१ में कासिमशाह ने 'हंसजवाहर', १७४४ ई० में नूर मुहम्मद ने 'इंद्रावती' और १८४८ ई० में फ़ाज़िलशाह ने 'प्रेमरतन' को रचना की। दो अन्य प्रसिद्ध सूफ़ी काव्य माधवानल कामकंदला (आलम १६०५ ई०) और यूसुफ़ जुलेखा (निसार, १८१९ ई०) हैं। इन सूफ़ी अवधी प्रबंधरचयिताओं में जायसी ही सब से प्रधान हैं। जायसी के पद्मावत की कथा-वस्तु ऐतिहासिक है, परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि उन्होंने इसे इतिहास के अध्ययन से प्राप्त किया है। वास्तव में उन्होंने कथा का वही रूप अपनाया जो अवध में लोकगीतों और कथाओं के रूप में प्रचलित था। यही कारण है कि उसमें इतिहास विरुद्ध घटनाएँ मिलती हैं। सच तो यह है कि अधिकांश सूफ़ी कवियों के कथानक लोककथा से लिये गये हैं या उनपर आश्रित हैं।

इन सब अवधी प्रेम-कथाओं में बहुत साम्य है। सब दोहा-चौपाइयों में लिखी गई हैं। सब में मसनवियों की शैली अपनाई गई है—ईश्वर-वंदना, मोहम्मद साहब की स्तुति, शाह वक्त का वर्णन आदि। सब की भाषा अवधी है। सब में सूफ़ी भावना अंतर्हित है। फ़ारसी प्रेमकथाओं में पहले पुरुष की स्त्री पर आसक्ति दिखलाई जाती है। इतना विदेशीपन होने पर भी षट्ऋतु वर्णन, बारहमासा, नगरवर्णन, स्त्री-सौन्दर्य वर्णन आदि अनेक बातों और रस्म-रिवाजों में भारतीय परंपरा का अनुसरण किया गया है। ये मुसलमान साधक कवि जीवात्मा के विरह का बड़ा सुन्दर चित्रण उपस्थित कर सके हैं।

सारा काव्य प्रेम की तन्मयता से व्याप्त है। इन प्रेम-साधकों ने कथा को ही साधन बना लिया है।

इन सूफ़ियों के साहित्य को काव्य की दृष्टि से हम हिंदी का पहला रोमांस काव्य कह सकते हैं। इस काव्य में एकांतिक प्रेम का चित्रण किया गया है। रोमांस की तरह इन काव्यों का नायक अनेक घटनापूर्ण कठिन परिस्थितियों में से गुज़र कर अपनी प्रेमिका को प्राप्त करता है। प्रकृति के प्रति इनका दृष्टिकोण अत्यन्त रहस्यात्मक है और अंग्रेजी काव्य के १६वीं शताब्दी के कवियों से मिलता-जुलता है। जो हिंदी सूफ़ी साहित्य हमारे सामने है, वह फ़ारस के सूफ़ीमत का ज्यों का त्यों हमारे सामने नहीं रखता परन्तु वह फ़ारस में विकसित सूफ़ीमत की साहित्यिक अभिव्यक्ति है और उस पर वेदांत का प्रभाव है। "इसमें तो कोई शक नहीं कि मुसलमान सूफ़ियों पर, भारत में आने के बाद हिंदू वेदांतियों का प्रभाव पड़ा।" (मौलाना सैयद सुलेमान नदवी (अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० २०३)

जायसी का ग्रन्थ (पदमावत, १५३३) तत्कालीन अवधी को हमारे सामने रखता है। अतः इस दृष्टिकोण से महत्व-पूर्ण है। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर शब्दों के प्रचलित बोल-चाल के रूपों का प्रयोग किया है। संस्कृत का ज्ञान न होने और काव्य-शास्त्र का अधिक सहारा न लेने के कारण भाषा की स्वाभाविकता बनी रह सकी है। जायसी में वेदांत के सिद्धांत भी मिलते हैं, विशेषकर अखरावट में परन्तु जायसी की स्वाभाविक धार्मिक भूमि सूफ़ी धर्ममार्ग है। "सारी कथा के पीछे सूफ़ी सिद्धांतों की रूपरेखा है परंतु जायसी इस आध्या-त्मिक संकेत को पूर्ण रूप से निबाह नहीं सके हैं।" सच तो यह है कि कथा-प्रसंग और आध्यत्मिक संकेत को एक साथ

चलाना बड़ा कठिन होता है। जायसी ने कथा-प्रसंग के बीच-बीच में पाठक को बार-बार आध्यात्मिक पक्ष का ध्यान दिलाया है, एवं इसके अतिरिक्त अंत में संक्षेप में सारी कथा पर आध्यात्मिकता का आरोप कर दिया है, परंतु फिर भी बहुधा वर्णनों के विस्तार में यह लक्ष्य आँख की ओर हो जाता है। जायसी के ऊपर हठयोग और संतमत का प्रभाव भी लक्षित है। हठयोग की लगभग पूरी पद्धति का विवेचन उनके ग्रंथ में हो गया है। इससे स्पष्ट है कि जायसी के समय में उनके प्रदेश में हठयोग की धारा बलवती थी।

पद्मावत के साहित्य पक्ष पर हिन्दु और मुसलमान दोनों साहित्य-धाराओं का प्रभाव पड़ा है। (१) हिन्दू साहित्य धारा का प्रभाव—पद्मावत को महाकाव्य के ढंग पर रखने का प्रयत्न किया गया है। ग्रीष्म-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह वर्णन, युद्ध-वर्णन, भोजन-वर्णन, गढ़-वर्णन। षटऋतु और बारहमासा वर्णन मिलते हैं जो इसी ओर इंगित करते हैं। इनके अतिरिक्त हीरामन तोता, नागमती एवं प्रेम-चित्रण में भी हिन्दू साहित्य ग्रंथों के आदर्श और हिन्दू संस्कृति को अपनाया है। (२)—मुसलमान साहित्य-धाराओं का प्रभाव—पद्मावती की शैली मसनवी की है। मसनवी 'द्विपाद' (चौपाई) छंद होता हो। जायसी ने चौपाई की अर्धालिका का इसी रूप में प्रयोग किया है। फ़ारसी मसनवी-काव्या में ५-७ छंदों के बाद विराम देते हैं। जायसी ने सात अर्द्धालियों को बाद एक दोहा। लिखा है। मसनवियाँ भी प्रेम-कहानियाँ होती हैं। अधिकांश में सूफ़ी आध्यतिमक प्रेमपक्ष की व्यंजना होती है। पद्मावत में भी आरंभ भी उसी रूप से किया है जो मसनवियों में मिलता है। १ ईश्वर स्तुति, २ मुहम्मद स्तुति, ३ सुलतान-स्तुति, ४ आत्मपरिचय, ५ कथा-भाग। मसनवी वर्णनात्मक है,

इसी से कहीं-कहीं वर्णन का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है। यह बात पद्मावत में है। प्रेम का प्रसंग भी फ़ारसी प्रेम-शैली पर है। पद्मावती के रूपवर्णन से ही राजा मूर्छित हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरह-वर्णन में भी फ़ारसी शैली के अनुसार प्रेम का काठिन्य दिखाने के लिए कवि औचित्य और स्वाभाविकता की सीमाओं को लाँघ गया है। रूपवर्णन में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग स्वाभाविकता में बाधा डालता है।

इन सूफ़ी कवियों ने प्रेम और विरह के बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। उनकी प्रेम की परिभाषा बड़ी ऊँची है—

अलख प्रेम-कारन जग कीन्हा।
धन जो सीस प्रेम कहँ दीन्हा॥
जाना जेहिक प्रेम महँ हीया।
मरै न कब हूँ सो मरजीया॥
प्रेम खेत है यह दुनियाई।
प्रेमी पुरुष करत बोवाई॥
जीवन जाग प्रेम को कहई।
सोवन मीचु जो प्रेमी अहई॥
आग तपन जल चाल समूझो।
पुनि टिकाउ माँटी कहँ बूझो॥

हौ प्रेमी है प्रेम को, चंचलताइ काय
जा मन जायां प्रेमरस, भा दोउ जग को राय

(नूरमुहम्मद)

परंतु उनका प्रेम लौकिक नहीं है, वह ईश्वरोन्मुख है। उन्होंने कथाओं का आश्रय लेकर प्रतीक रूप में उस प्रेम को प्रकट करने की चेष्टा की है और वे सफल भी हुए हैं। उस प्रेम के लिए गुरुभक्ति के द्वारा इतना पूर्वरंग, साधना की कठिनाइयाँ

(प्रलोभन और कष्ट), आध्यात्मिक विरह (वियोग), आध्यात्मिक प्राप्ति (संयोग)—इस क्रम से कथासूत्र बाँधा गया है। कथाएँ अधिकांश हिंदू जीवन से ली गई हैं। जायसी के पद्मावत के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष कथाएँ अनैतिहासिक हैं। या तो वे कवि के मस्तिष्क की उपज हैं या वे जन-समाज में प्रचलित लोक-कथाओं का परिमार्जित एवं परिवर्द्धित रूप हैं।

परंतु प्रेम का जो रूप इन कथाओं में है वह भारतीय काव्य-परंपरा से कुछ दूर पड़ता है—पहली बात है निराधार पूर्वराग। गुणश्रवण द्वारा पूर्वराग की उत्पत्ति हमारे शास्त्रकार मानते हैं परंतु नायिका के सौन्दर्य की बात सुनकर नायक को मूर्च्छा आये, यह कल्पना की दूर की कौड़ी है। सूफ़ियों (सूफ़ी-कवियों) ने अध्यात्म को सामने रखा है, अतः वे यहाँ तक बढ़ गये। दूसरी बात है पुरुष का प्रयत्नशील होना। भारतीय काव्य-परंपरा में नायिका नायक से मिलने के लिए प्रयत्नशील होती है, उसमें उसके अभिसार की कठिनाइयों की चर्चा है, प्रेमोत्कर्ष के लिए ये कठिनाइयाँ बढ़ भी सकती हैं। परंतु सूफ़ी कवियों ने नायक को प्रेमपरीक्षा देते हुए चित्रित किया है। इसका कारण यह है कि उनके काव्य में नायिका चिन्मय सत्ता के प्रतीक के रूप में आती है। जीव-रूप नायक उसे पाने के लिए कटिबद्ध है। इस नये ढंग से वे भारतीय परंपरा से तो हट गये, परंतु वे चित् सत्ता के सौन्दर्य की व्यंजना अलौकिक नारी रूप की सृष्टि द्वारा सफलता से कर सके हैं।

"कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर या प्रत्यक्ष या स्वप्न या चित्र में देखकर आकर्षित होता है। उधर भी यही हालत होती है। अंत में वह उसकी खोज में चल पड़ता है। प्रायः उसे कोई मार्ग-प्रदर्शक भी मिल जाता

इसी से कहीं-कहीं वर्णन का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है। यह बात पद्मावत में है। प्रेम का प्रसंग भी फ़ारसी प्रेम-शैली पर है। पद्मावती के रूपवर्णन से ही राजा मूर्छित हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरह-वर्णन में भी फ़ारसी शैली के अनुसार प्रेम का काठिन्य दिखाने के लिए कवि औचित्य और स्वाभाविकता की सीमाओं को लाँघ गया है। रूपवर्णन में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग स्वाभाविकता में बाधा डालता है।

इन सूफ़ी कवियों ने प्रेम और विरह के बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। उनकी प्रेम की परिभाषा बड़ी ऊँची है—

अलख प्रेम-कारन जग कीन्हा।
धन जो सीस प्रेम कहँ दीन्हा॥
जाना जेहिक प्रेम महँ हीया।
मरै न कब हूँ सो मरजीया॥
प्रेम खेत है यह दुनियाई।
प्रेमी पुरुष करत बोवाई॥
जीवन जाग प्रेम को कहई।
सोवन मीचु बो प्रेमी अहई॥
आग तपन जल चाल समूझो।
पुनि टिकाउ माँटी कहँ बूझो॥

हो प्रेमी है प्रेम को, चंचलताइ काय
जा मन जायो प्रेमरस, भा दोउ जग को राय

(नूरमुहम्मद)

परंतु उनका प्रेम लौकिक नहीं है, वह ईश्वरोन्मुख है। उन्होंने कथाओं का आश्रय लेकर प्रतीक रूप में उस प्रेम को प्रकट करने की चेष्टा की है और वे सफल भी हुए हैं। उस प्रेम के लिए गुरुभक्ति के द्वारा इतना पूर्वरंग, साधना की कठिनाइयाँ

(प्रलोभन और कष्ट), आध्यात्मिक विरह (वियोग), आध्यात्मिक प्राप्ति (संयोग)—इस क्रम से कथासूत्र बाँधा गया है। कथाएँ अधिकांश हिंदू जीवन से ली गई हैं। जायसी के पद्मावत के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष कथाएँ अनैतिहासिक हैं। या तो वे कवि के मस्तिष्क की उपज हैं या वे जन-समाज में प्रचलित लोक-कथाओं का परिमार्जित एवं परिवर्द्धित रूप हैं।

परंतु प्रेम का जो रूप इन कथाओं में है वह भारतीय काव्य-परंपरा से कुछ दूर पड़ता है—पहली बात है निराधार पूर्वराग। गुणश्रवण द्वारा पूर्वराग की उत्पत्ति हमारे शास्त्रकार मानते हैं, परंतु नायिका के सौन्दर्य की बात सुनकर नायक को मूर्च्छा आये, यह कल्पना की दूर की कौड़ी है। सूफ़ियों (सूफ़ी-कवियों) ने अध्यात्म को सामने रखा है, अतः वे यहाँ तक बढ़ गये। दूसरी बात है पुरुष का प्रयत्नशील होना। भारतीय काव्य-परंपरा में नायिका नायक से मिलने के लिए प्रयत्नशील होती है, उसमें उसके अभिसार की कठिनाइयों की चर्चा है, प्रेमोत्कर्ष के लिए ये कठिनाइयाँ बढ़ भी सकती हैं। परंतु सूफ़ी कवियों ने नायक को प्रेमपरीक्षा देते हुए चित्रित किया है। इसका कारण यह है कि उनके काव्य में नायिका चिन्मय सत्ता के प्रतीक के रूप में आती है। जीव-रूप नायक उसे पाने के लिए कटिबद्ध है। इस नये ढंग से वे भारतीय परंपरा से तो हट गये, परंतु वे चित् सत्ता के सौन्दर्य की व्यंज़ना अलौकिक नारी रूप की सृष्टि द्वारा सफलता से कर सके हैं।

"कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर या प्रत्यक्ष या स्वप्न या चित्र में देखकर आकर्षित होता है। उधर भी यही हालत होती है। अंत में वह उसकी खोज में चल पड़ता है। प्रायः उसे कोई मार्ग-प्रदर्शक भी मिल जाता

है। यह अधिकतर राजकुमारी का भेजा हुआ कोई दूत या दूत का काम करने वाला कोई पक्षी या तोता हुआ करता है। कई बार उसे फलागम होते-होते ऐसा कोई विघ्न या कोई ऐसी भूल उससे होती है जिससे उसकी उद्देश्य-सिद्धि फिर एक अनिश्चित काल तक के लिए रुक जाती है।" (हिंदी के कवि और काव्य, भाग ३, पृ० ८-६) मृगावती, मधुमालती और पद्मावती की कहानियाँ इसी तरह की हैं। इनमें से सब से विकसित 'पद्मावत' की कथा है।

यूसुफ़-ज़ुलैखा (१८१६ ई०) तक आते-आते सूफ़ी इंगित का लोप हो गया था और केवल कथा-मात्र कह डालने की प्रवत्ति रह गई थी। वास्तव में यूसुफ़-ज़ुलैखा की कथा को हम सूफ़ी कथा-काव्य नहीं कह सकते। उसे एक सहृदय मुसलमान ने पुत्र-शोक हलका करने के लिए लिखा है। उसके मूल में न सूफ़ियों की रहस्य-भावना है, न उसमें कोई प्रतीकार्थ हैं। संसार की अनश्वरता दिखाना ही कवि का ध्येय है। "यूसुफ़-ज़ुलैखा जैसे प्रेमियों की कथा ही रह गई—" कवि इस विचार से अपनी दुखी आत्मा में संतोष भर रहा है। परंतु यह स्पष्ट है कि लेखक सूफ़ी कथा-काव्यों से भली भाँति परिचित था और ग्रंथ की भाषा-शैली मसनवी ढंग की ही है। जिन सिद्धांतों का उसने उल्लेख किया है, वे साधारण मुसलमानों में [illegible]न हैं और उन्हें सूफ़ियों का मत नहीं कहा जा सकता [illegible] से साम्य के सिवा ग्रंथ में कुछ ऐसा न[illegible] जो काव्यों की कोटि दे। 'माधवानल का[illegible] (१[illegible] के संबंध में भी यही बात कही जा स[illegible] में विकास भी बहुत संक्षेप में होता है। [illegible] से काव्यों को सूफ़ी काव्य माना जा सक[illegible] कामकंदला में आध्यात्मिक रूपक देने [illegible] व

भी नहीं है। बात यह है कि मध्ययुग की एक प्रवृत्ति कथाओं की प्रियता भी थी। इन कथाओं की सृष्टि इसी लोकरुचि की पूर्ति के लिए हुई है। रचना खूब लोकप्रिय थी, अतः कवियों ने उसे ही आदर्श माना, यद्यपि वे अपने काव्य में स्पष्टतयः आध्यात्मिक संकेत से काम नहीं लेते।

जो हो, हमें यह मानना पड़ेगा कि सूफ़ी-मत ने भारतीय जनता को प्रभावित किया। नए मतावलंबी उसकी ओर विशेप रूप से आकृष्ट हुए। उन्होंने लोक में प्रचलित, कभी कल्पना-प्रसूत रचनाओं के द्वारा अपने सिद्धांतों को प्रगट करने की मौलिकता दिखाई और ऐसे कवियों की एक छोटी-मोटी परंपरा कुछ दिन चली। मुसलमानों में सूफ़ी प्रेम-कथाएँ इतनी प्रचलित हुईं कि उन्होंने उन्हें अपनी कथाओं के लिए आदर्श माना—भाषा, छंद, शैली और गठन की दृष्टि से—यद्यपि उनकी कथाएँ सूफ़ी काव्य के अंतर्गत न आकर सामान्य आख्यानक काव्य के भीतर आती हैं।

सूफ़ी रहस्यवाद को जिन कवियों ने अपना आधार माना है उनमें ज़ायसी सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने कथा का रूप विकृत नहीं किया है, लोक-प्रचलित रूप ही दिया है। हाँ, उस पर आध्यात्मिक अर्थों का आरोपण अवश्य है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा॥
तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जो पन्थ दिखावा। बिना गुरु को निरगुन पावा॥
नागमती एहि दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम कथा ऐहि भाँति विचारहु। बूझि लेउ जो बूझै पारहु॥

इस प्रकार तन = चित्तौड़ ; मन = राजा ; हिय = सिंहलद्वीप ;

बुद्धि = पद्मिनी ; गुरु = तोता (हीरामन), नागमती = जगज्जाल ; राघव = शैतान ; माया = अलाउद्दीन। परन्तु जायसी आदि सूफ़ी कथाकारों ने अपने सूफ़ी विचारों को मूल कथा के साथ-साथ ही प्रगट किया है। उन्होंने अंत में जो अर्थ आरोपित किए हैं, वे अधिक स्पष्ट नहीं हैं। सूफ़ी कवियों ने विरह को उसी प्रकार प्रधानता दी है जिस प्रकार संत कवियों ने। जब कवि लौकिक विरह के संबंध में लिखने लगता है तो उसकी दृष्टि में आध्यात्मिक विरह ही होता है—

विरह अवधि अवगाह अपारा।
कोटि माहि एक परै त पारा॥
विरह कि जगत अविरथा जाही ?
विरह रूप यह सृष्टि सबाई॥
नयन विरह अंजन जिन सारा।
विरह रूप दर्पन संसारा॥
कोटि माहि विरला जग कोई।
जाहि सरीर विरह दुख होई॥

रतन कि सागर सागरहि ? गजमोती गज कोय।
चंदन कि बन-बन उपजइ ? विरह कि तन-तन होय ?

(मंझन)

वे नारी-सौन्दर्य में परमात्म-शक्ति की स्थापना करते हैं—वास्तव में सूफ़ी संतों के अनुसार सांसारिक विभूतियों का आधार परमात्म सत्ता ही है। इस संसार की प्रत्येक सुन्दर वस्तु के पीछे, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष या प्रकृति या कोई कार्यव्यापार विशेष, ईश्वर है या उसकी प्रेरणा है। इसी कारण सूफ़ी संसार की असारता की घोषणा करते हुए भी उसका ओर घृणा

की दृष्टि से नहीं देखते जिस घृणा की दृष्टि से उसे संत देखते हैं। उनके लिए नारी-सौन्दर्य भी सत्य है, प्रकृति भी सत्य है। दोनों अध्यात्म की ओर इंगित करते हैं, अतः किसी विशेष अवस्था में उपादेय अथवा संग्रहणीय भी हो सकते हैं। मंझन कहते हैं—

देखत ही पहचानेउँ तोही
एही रूप जेहि छंदरयो मोही
एही रूप बुत अहै छिपाना
एही रूप रब सृष्टि समाना
एही रूप सकती औ सीऊ
एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ
एही रूप प्रगटे बहु भेसा
एही रूप जग रंक नरेसा

सूफ़ी कवियों ने जिन कथाओं का आश्रय लिया, वे कथाएँ पूर्णतयः भारतीय हैं। उनके नायक-नायिका ही भारतीय नहीं है, उनके जीवन की अनेक परिस्थितियाँ भी भारतीय हैं। उनके नायक-नायिकाओं के कार्यों का आधार भारतीय (हिंदू) विश्वास हैं। यदि कथा पर से विदेशी धार्मिक सिद्धांत (सूफ़ीमत) का आवरण हटा लिया जाय, उसे केवल प्रेम-कथा-काव्य के रूप में देखा जाय तो हिंदू जीवन की इतनी अधिक परिस्थितियाँ तुलसी को छोड़कर और कहीं नहीं मिलेंगी। जायसी को ही लीजिये। नैहर में लड़की की स्वतंत्र चहल-पहल, सुसराल का चिंतन, पुत्री के विदा के समय की परिस्थिति, प्रेम और वियोग में भारतीय ललना की मनोवृत्ति, आस्तिक विश्वास, बलिदान, युद्धों में वीरों की मनोस्थिति—अनेक प्रसंग ऐसे ही जो पूर्णतः एतद्देशीय हैं। उन सब के लिये सूफ़ी कवि हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। हिंदू

संस्क्रांत का विजातीय (विधर्मी अधिक ठीक होगा) लेखनी से इतने सुन्दर रूप में चित्रित होना तो आश्चर्य की बात है ही, परंतु इतनी सहृदयता पा जाना तो हमें और भी चकित कर देता है। परंतु हमें यह न भूलना चाहिये कि सूफ़ी काव्य उन हिंदुओं द्वारा रचा गया है जो मुसलमान धर्म में अभी ही आये थे। दूसरे, सूफ़ी धर्म अन्य धर्मों के प्रति अत्यंत सहिष्णु है। तीसरे, जिन कथाओं में आध्यात्मिक अर्थ सिद्ध किये गये, वे जिस रूप में जनता में प्रचलित थीं, उसे तोड़ना-मरोड़ना अनुपादेय होता। वास्तव में सूफ़ी काव्य के पीछे न धर्म-प्रचार की भावना है, न काव्य-प्रतिभा-प्रदर्शन की। कवियों ने प्रचलित मसनवी शैली पर आत्मानुभूति व्यक्त करने की चेष्टा की है। कथा के विस्तार और उसके स्वतः-सौन्दर्य ने उनकी अनुभूति को ढाँप दिया है परंतु प्रेम-विरह के अवसरों पर वह अनावृत भी हो गई है।

सूफ़ी ग्रंथों की शैली मसनवी ग्रंथों पर निर्धारित है, महाकाव्य शैली पर नहीं। सारी कथा इसी रूप में कही गयी है। वह अखंडित रूप से चलती रहती है। परंतु इस मसनवी-काव्य का बाह्य रूप विदेशी होते हुए भी अनेक बातों में प्राचीन काव्य-परंपरा से मेल खाता है। प्रकृति-वर्णन हिंदू शैली पर ही है। परिगणन-शैली उस समय के काव्य में प्रचलित थी—इसी तरह ऋतु-वर्णन और बारहमासा जिन्हें प्रकृति के उद्दीपन के रूप में स्वीकार किया गया है। परंतु स्वयं सूफ़ियों की भावना ने भी अनेक स्थानों पर प्रकृति को रँग दिया है। सूफ़ियों के अनुसार प्रकृति सत्य है, अव्यक्त सत्ता का व्यक्त रूप है इसी कारण सूफ़ी उसके रूप पर भी मुग्ध हैं। उसके प्रति प्रेम को वह उसके पार की परमसत्ता तक पहुँचने का साधन समझता है।

इस प्रकार हम हम देखते हैं कि सूफ़ी काव्य का प्रकृत रूप भारतीय है। उसकी प्रेम-पद्धति हमारे काव्य-शास्त्रों से कुछ हटकर अवश्य चली है परंतु उसका कारण केवल यही है कि उस पर आध्यात्मिक अर्थ का आरोप है। प्रेमी की कठिनाइयों के जैसे अतिरंजित चित्र वहाँ हैं, वे हमारी काव्य-परंपरा की संपत्ति नहीं। फ़ारसी के सूफ़ी काव्य में प्रेमोत्कर्ष और प्रेम-पंथ की कठिनाइयाँ दिखाने के लिए इस प्रकार के चित्रों की योजना की जाती थी। वास्तव में सूफ़ी काव्य में भारतीय और विदेशी साधनाओं एवं काव्य-परंपरा का आश्चर्यजनक सम्मिश्रण है। हम उसे संधि-काव्य कह सकते हैं। परिवर्ती सूफ़ी कवियों में महत्वपूर्ण हैं यारी साहब (१६६८--१७२३), केशवदास, बुल्ला साहब (१७३० ई० के लगभग), बुल्लेशाह (१८वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में), गुलाल साहब और भीखा साहब (१८वीं शताब्दी के अंतिम चरण में), नूरमुहम्मद (इन्द्रवती, १७४३) और मोतीराम (ज० १६८३, ब्रजभाषा में 'माधवानल')।

५

सूफ़ी-मत

इस्लामी धर्म की भाँति सूफ़ी धर्म किताबी धर्म नहीं है। इसमें अध्यात्म तत्त्व और साधना की प्रमुखता है। इन्हें जाने बिना सूफ़ियों के आचार-विचार के संबंध में अनेक प्रकार की भ्रांत धारणाएँ उठ खड़ी होती हैं। जैसा हमने ऊपर बताया है, सूफ़ियों के अध्यात्मतत्त्व और उनकी साधना में अनेक स्रोतों से आई हुई धाराएँ मिल गई हैं। स्वयं सूफ़ीमत का निश्चित रूप १२वीं शताब्दी के बाद ही मिलता है। तीन-चार शताब्दियों तक तो अनेक प्रभावों का आदान-प्रदान चलता रहा।

१—अध्यात्मतत्त्व

(क) अल्लाह

सूफ़ी-साधना का आलंबन उसी प्रकार अल्लाह है जिस प्रकार बौद्ध साधना का आलंबन निर्वाण है, या हिन्दू साधना का ब्रह्म। परंतु सूफ़ियों के अल्लाह की भावना और इस्लाम की अल्लाह की भावना में अंतर है। इस्लाम के अनुसार अल्लाह के अतिरिक्त और कोई देवता नहीं। 'ला इलाही अल्लाह'। सूफ़ियों के अध्यात्म में अल्लाह की सत्ता सर्वोपरि तो है, परंतु उसके 'जलाल' की अपेक्षा उसके 'रहीम' (करुणामय) रूप पर ही अधिक बल दिया गया है। इस्लाम में अल्लाह की जो भावना है, उससे सूफ़ी-अल्लाह की भावना श्रेष्ठतर है। कुरान का अल्लाह वास्तव में परम देवता है।

इसराएल की संतानों में जो स्थान यहोवा का है वही इसमाइल के वंशजों में अल्लाह का। .कुरान का अल्लाह साकार, सगुण और शाश्वत है। अल्लाह के हाथ-पैर की भी चर्चा की गई है और इसे 'तजसीम' कहा गया है। मीमांसकों को अल्लाह के हाथ-पैर की बात खटकी और उन्होंने यह माना कि अल्लाह अपवाद है। इसे उन्होंने 'तंजीह' कहा। इस्लामी विचारकों ने अल्लाह के रूप के संबंध में अनेक प्रवाद चलाये। इनसे लाभ उठाकर सूफ़ियों ने कहा कि अल्लाह हृदय में है, वह अंतर्यामिन् है और हृदय को आइने की तरह स्वच्छ रखकर उसका प्रतिबिंब देखा जा सकता है। अतः इस प्रकार एक-देशीय अल्लाह सर्वान्तर्यामिन, निर्गुण, निराकार ब्रह्म बन गया। .कुरान में भी अल्लाह के इस सार्वत्रिक रूप के उल्लेख मिल जाते हैं (अर्ली डेवलेप्मेंट आव मोहम्मेडनीज्म, पृ० १६६ : .कुरान, २-१८२, ५०-१५, ५१-२०-२१, २-१०६) परन्तु व्यापक-रूप से यह भावना लागू नहीं होती।

अल्लाह के संबंध में जो अनेक उल्लेख .कुरान में थे उनसे उसके अनेक विशेषणों का पता चलता था। जिली ने इन विशेषणों के आधार पर अल्लाह के चार गुण बताये :

१—ज़ात (एकता, नित्यता, सत्यता, सार्वभौमिकता इत्यादि)

२—जमाल (उदारता, माधुर्य, क्षमा इत्यादि)

३—जलाल (शक्ति, शासकत्व इत्यादि)

४—कमाल (विरोधी गुणों का समाहार इत्यादि अलौकिक शक्तियों का स्वामीत्व)।

इस प्रकार अल्लाह के समस्त गुण ज़ात, जमाल, जलाल और कमाल के अंतर्गत आ जाते हैं। .कुरान में जमाल और जलाल के तो अनेक प्रसंग थे, परंतु ज़ात और कमाल का कहीं-कहीं उल्लेख मात्र था। सूफ़ियों ने इन्हें ही विशेष महत्व

दिया। इस प्रकार जहाँ .क़ुरान के अल्लाह के सामने हमारा माथा (मस्तिष्क) झुक जाता है, वहाँ सूफ़ियों के अल्लाह के सामने हृदय भाव-विभोर हो जाता है। यह सूफ़ियों की नई व्यवस्था थी।

परंतु सृष्टि और जीवन को लेकर भी अल्लाह के संबंध में विवेचना की गई है। 'इलाह' ही परमसत्ता है। 'अहद' 'वाहिद 'रहमान' और 'रब्ब' इसी के क्रमिक विकास हैं। अहद से पहले की अवस्था में अल्लाह ज़ात के रूप में रहता है अहद अर्थात केवल ज़ात से वाहिद। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुतः परमसत्ता अहद है, केवल है, अद्वैत है। इसे ठीक ठीक जाना भी नहीं जा सकता। इसे 'अमा' की अवस्था कह सकते हैं। व्यक्त होने के लिये जब अल्लाह इच्छा करता है तब हम उसे अहद के रूप में भी पाते हैं। "अहद में तद्भाव और अहंभाव का समावेश रहता है। सूफ़ी इन्हीं के 'हाविय्या' और 'अनिय्या' का भाव कहते हैं। प्रथम बातिन है तो द्वितीय ज़ाहिर। पहली अव्यक्त है दूसरी व्यक्त। अहंभाव ने जो रूप धारण किया वही एक अथवा वाहिद बना। फिर अभिमान से अनेक का ताँता बँधा। इलाह और मलहूम का व्यापार चल पड़ा।" (तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत, पृ० १३६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफ़ियों को अल्लाह की भावना उतनी सामी नहीं है। वह वेदांतियों के ब्रह्मवाद से मिलती-जुलती है। इसी से उसमें 'रहस्यवाद' और इश्क़ (मादनभाव) की प्रतिष्ठा हो सकी।

२—जीव

.क़ुरान में ब्रह्म-जीव के संबंध की कोई बात ही नहीं उठी है। उसमें अल्लाह और मुहम्मद का संबंध तो स्पष्ट है। अल्लाह

'एक' है, सर्वोपरि है। उसकी सत्ता सब से ऊपर है। मुहम्मद उसके दूत (रसूल) हैं। रसूल और भी आते रहे हैं। परन्तु मुहम्मद अंतिम रसूल हैं। अधिक से अधिक अल्लाह और इस्लाम के अनुयायियों का संबंध सेव्य-सेवक जैसा है। परंतु जब दर्शन चल पड़ा, तर्क ने जोर पकड़ा, तो लोग अल्लाह और इंसान का संबंध भी खोजने लगे। अल्लाह, फरिश्तों, मुहम्मद और इंसान (जीव) एवं सृष्टि में परस्पर क्या संबंध हैं, ये जिज्ञासा के विषय हुए। सूफ़ियों ने सोचा, आखिर जीव की क्या स्थिति है ? क्या वह अल्लाह से भिन्न है ? क्या वह अल्लाह की तरह ही एक, नित्य और सत्य है ? इस्लाम ने इन विषयों पर कुछ नहीं कहा था। सूफ़ियों ने वेदांतियों की तरह कहा—'अन-अल-हक़'। 'मैं हक़ हूँ' जीव ही ब्रह्म है। इस तरह जीव हक़ हो गया। वह सत्य, नित्य, एक मान लिया गया। मूलतः अल्लाह और बन्दे में कोई अंतर नहीं है। आदमी अल्लाह का ही प्रतिरूप है। कहा है—जब सृष्टि बन चुकी तो अल्लाह ने अपने नूर से अपने अनुरूप ही आदम (प्रथम मनुष्य) की रचना की। वस्तुतः इंसान वह आईना है जिसमें अल्लाह अपना स्वरूप देखता है।

"सूफ़ी साहित्य में जीव का शास्त्रीय विवेचन अधूरा है। वहाँ काव्य के आवरण में प्रतिपादित किया गया है कि जीव अल्लाह से भिन्न नहीं है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि सर्वत्र सूफ़ियों ने अद्वैत का पक्ष लिया है। उसके अद्वैत के भी उसी प्रकार कई प्रकार पक्ष हैं जिस प्रकार भारतीय अद्वैत के। हल्लाज की दृष्टि में जीव सर्वथा ब्रह्म नहीं बन सकता, वह पानी की भाँति शराब में मिल सकता है। पर बिल्कुल ब्रह्म नहीं हो सकता। उसकी सत्ता बनी अवश्य रहती है। परंतु उसका पूर्णतः लोप नहीं होता, अतएव

उसके यहाँ देवत्व और मनुष्यत्व 'लाहूत' और 'नासूत' का विचार है। उसका कथन है कि वह जिससे प्रेम करता है वह स्वतः वही है। वास्तव में एक ही शरीर में दो प्राण हैं, जो परस्पर प्रणयबद्ध हैं। अंतर केवल यह है कि प्रेमी के स्वरूप-बोध से प्रियतम का दर्शन मिल जाता है, पर प्रियतम के साक्षात्कार से दोनों की सत्ता स्पष्ट हो जाती है। रूमी (मृ० १२७३) का मत हल्लाज से कुछ भिन्न है। उसका मत यह है कि प्रेमी और प्रिय देखने में भिन्न हैं, पर तथ्यतः उसके युगल शरीर में, मिथुन रूप में, एक ही आत्मा निवास करती है। जिली का कहना है कि प्रेमी और प्रिय एक ही की आत्मा हैं जो क्रम से दो शरीर में रहते हैं। फ़ारिज (मृ० १२६१) आग्रह करता है कि प्रेमी सदैव प्रिय है और प्रिय सदैव प्रेमी है, उनमें कुछ भी अंतर नहीं। सचमुच सत्ता ही सत्ता से प्रेम करती है।" (वही, पृ० १४६)। ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि सूफ़ी अद्वैतवादी हैं, परंतु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उनका अद्वैतवाद किस श्रेणी का है। केवल, विशिष्ट, शुद्ध अथवा द्वैताद्वैत में वह कौन-सा अद्वैतवाद है, यह कहना कठिन है। परंतु साधनापक्ष में वह वेदांत के केवलाद्वैत से बहुत निकट है, यद्यपि वह ज्ञानाश्रित नहीं, भावाश्रित है।

३—सृष्टि

सूफ़ियों की दृष्टि में सृष्टि का उपादान कारण 'रूह' है। 'रूह' का अर्थ है वह अलौकिक शक्ति जो हमें बराबर अल्लाह की झलक दिखलाती है। यही रूह इंसान (मनुष्य) में भी है। जिस प्रकार इंसान की रूह सदा में अल्लाह के लिए तड़पती है, उसी तरह यह सृष्टि भी अल्लाह के लिए तड़पती है। इंसान

की रूह का शरीर से जो संबंध है वह रूह का सृष्टि से है। जिली कहता है कि अल्लाह ने अपनी अल्लाह की सत्ता का प्रथमतः रूह का रूप दिया उनसे सृष्टि फरिश्तों और क़ल्ब की उत्पत्ति हुई। सूफ़ियों के विचार में सृष्टि के सारे उपकरण अल्लाह के अंग-प्रत्यंग की झलक है। जो कुछ गो-गोचर है, वह सब उसी का नखशिख है। वही एक अल्लाह सत्य है। शेप सब उसकी छाया या प्रतिबिंब है। इस प्रदिबिंब में हम अल्लाह की झाँकी देख सकते हैं। यही उसकी उपादेयता है। सूफ़ी सृष्टि में प्रतिबिंबित अल्लाह के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसमें तन्मय हो जाता है और इस प्रकार 'हक़' तक पहुँचना चाहता है। जीव स्वयं अल्लाह का प्रतिबिंब है। अतः प्रकृति से उसका गहरा संबंध है। संक्षेप में, सूफ़ियों के मतानुसार सृष्टि (प्रकृति) वह दर्पण है जिसमें अल्लाह के आत्मदर्शन की कामना पूरी होती है। इस दर्पण में अल्लाह का जो प्रतिबिंब पड़ता है, वही इन्सान है। परन्तु यह इन्सान सृष्टि में अपना स्वरूप देखना चाहता है। अतः वह भ्रम से अहम् में ग्रस्त हो जाता है। जब वह सृष्टि (प्रकृति) के सौन्दर्य को अल्लाह के सौन्दर्य का दर्पण समझने लगता, तब अपने स्वरूप से उसका मोह टूट जाता है और वह अल्लाह में मिल जाता है। इस प्रकार प्रकृति सूफ़ियों के लिए एक महान् साधन है। प्रकृति के सौन्दर्य से एकात्म स्थापित करके ही साधक ईश्वरानुभूति (अन-अल-हक्क़) को प्राप्त होता है।

४—शैतान

भारतीय वेदांत में ब्रह्म और जीव की अभिन्नता के बीच परदा डालने वाली शक्ति को 'माया' कहा गया है। ब्रह्म की यवनिका, ब्रह्म की शक्ति आदि कहकर इसकी व्याख्या की गई

है। सूफ़ियों में शैतान अल्लाह और इन्सान के बीच में सब से बड़ी बाधा है।

परन्तु सूफ़ियों की शैतान की कल्पना .क़ुरान की मूल शैतान की कल्पना से भिन्न है। .क़ुरान के अनुसार शैतान (इबलीस) ने .ख़ुदा की आज्ञा टाली। जब अल्लाह ने अपने नूर से आदम का निर्माण कर लिया, तो उसने इबलीस (शैतान) को आज्ञा की कि वह आदम का अभिवादन करे। इबलीस ने यह स्वीकार नहीं किया। फलतः उसे अल्लाह का दंड भोगना पड़ा। उसका काम यही रखा गया कि वह अल्लाह के बंदों को गुमराह करे और उन्हें अल्लाह से हटा कर कुमार्ग पर लगाये। सूफ़ियों ने शैतान की कल्पना दूसरी तरह से की। जब अल्लाह सर्वोपरि है तो शैतान उससे विद्रोह किस तरह कर सकता है ? सूफ़ियों ने यह कल्पना की, वास्तव में आदम का अभिवादन न करके एक तरह से शैतान ने अल्लाह की मन-चाही की। अल्लाह चाहता था कि कोई शक्ति ऐसी भी रहे जो उससे बंदों को कड़ी आग में तपा सके। अतः अल्लाह की इच्छा से ही इबलीस ने उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया। इससे स्पष्ट है की सूफ़ियों का शैतान क़ुरान का शैतान नहीं है। वह अल्लाह का अनन्य भक्त और उपासक है और इस भक्ति के कारण ही इतनी बड़ी लांछा का काम स्वीकार करता है। वास्तव में पौराणिकों में जो काम नारद करते हैं, वही सूफ़ियों में शैतान। इसी से जायसी ने शैतान के स्थान पर नारद को रखा।

अब प्रश्न यह है कि इन्सान को पथभ्रष्ट कौन करता है ? इबलीस को तो इसके लिए दोषी ठहराया नहीं जा सकता। इसका कारण है नियति। कर्म ही मनुष्य को पथभ्रष्ट करते हैं। इन कर्मों का फल अनिवार्य है। अल्लाह कर्मों का फल देता है। इस तरह यहाँ का कर्मवाद आ जाता है। कर्मों के फल के

संबंध में अल्लाह भी स्वतंत्र नहीं है। परन्तु अल्लाह इतना अवश्य करता है कि वह हमें बराबर सावधान करता रहता है। कर्मों के फल के अनुसार नरक भी मिल सकता है, परन्तु नरक अल्लाह के जलाल का एक रूप है। अल्लाह रहमान भी है। रहम के कारण ही उसने नरक की रचना की है जिससे प्राणी उसके पास तक अंत में पहुँच सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लाम में पाप की समस्या को एक तरह से उड़ा ही दिया गया है। पाप पुण्य का बोध मात्र है। अल्लाह में कोई पाप नहीं। प्रकृति के दोषों के कारण अल्लाह दोषी नहीं ठहरता। वास्तव में पाप है ही नहीं। वह तो पुण्य का अभाव मात्र है। इस कल्पना से पाप की समस्या से सहज ही छुट्टी मिल जाती है। वास्तव में पाप के कारण पुण्य चमक उठता है। पापी से ही जलाल की प्रतिष्ठा है। सूफ़ियों के मत में इबलीस दर्पण का वह पृष्ठ है जिसके कारण अल्लाह का प्रतिबिंब होना संभव है। इस तरह वह घृणा की चीज़ नहीं रह जाता।

५—अन-अल-हक़्क़

परमार्थतः अल्लाह और इंसान एक ही तत्त्व के बने हैं। जिस प्रकार अल्लाह में जमाल और जलाल के दो तत्त्व हैं उसी प्रकार इंसान में भी यही दो तत्त्व हैं। यः पिंडे सा ब्रह्मांडे। पिंड में जो है, वही ब्रह्मांड में है। फिर इंसान में 'रूह' है। वह अल्लाह का प्रतिबिंब है। इंसान तत्त्वतः हक़ है। उसकी रचना इसलिए ही हुई है कि उसके द्वारा अल्लाह आत्मदर्शन चाहता है। परमार्थ-दर्शन के बाद अल्लाह और इंसान की भिन्नता नहीं रहती। कुछ सूफ़ी कहते हैं कि परमसत्ता में जीव में सर्वथा लोप हो जाता है, कुछ अंशतः मानते हैं अनेक

प्रकार की उपमाओं का प्रयोग हुआ है। बरफ़, पानी, नदी, समुद्र और आग-लोहा जैसे कई प्रतीक आये हैं, परंतु इनसे किसी निश्चित सिद्धांत की सिद्धि नहीं होती।

सूफ़ियों की साधना यही है कि वह 'अन-अल-हक़' 'मैं ब्रह्म हूँ,' इस बात को स्वयं अनुभव कर सकें। इस प्रकार का अनुभव सहज ही प्राप्त नहीं होता। अतः साधना की आवश्यकता पड़ती है। एक शब्द में इस साधना को 'विरह की साधना' कह सकते हैं। सूफ़ी दिन-रात उस महामिलन की आकुलता का अनुभव करना चाहते हैं जो अन्ततः जीव-ब्रह्म को एक कर देगी।

'अन-अल-हक़' की साधना पर विचार करने से पहले हमें दो तीन सूफ़ी पारिभाषिक शब्दों को जान लेना होगा। क़ल्ब, सिर्र, नफ़्स। ये तीन महत्वपूर्ण शब्द हैं। क़ल्ब मनुष्य की वह अत्यंत सूक्ष्म वृत्ति है जो सत्य का मंदिर है। यहीं परमात्मा (अल्लाह) निवास करता है। यह मांसपिंड (हृदय) नहीं है। उपनिषदों में भी 'हृदय'-तत्त्व को ही परमात्मा का अधिष्ठान बताया गया है परंतु वहाँ भी 'हृदय' से भौतिक हृदय का अर्थ नहीं होता है। सूफ़ियों के क़ल्ब की तरह वह भी मूल अंतर्वृत्ति है जिसका परिमार्जन आवश्यक है। जप, तप, नाम-साधन इत्यादि साधनाओं द्वारा 'क़ल्ब' का परिमार्जन संभव है। यही क़ल्ब मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का निवासस्थल है। अंततः यह वही है जिसे वेदांती अंतःकरण कहते हैं। जब महामिलन की आकुलता अत्यंत बढ़ जाती है तो इसी क़ल्ब (हृदय) में अत्यंत अभाव, अत्यधिक उत्कंठा और व्याकुलता का जन्म होता है। यह जीव की अंतिम परिणति है। इसे सात्विक भाव भी कह सकते हैं। यह 'सिर्र' की मनोस्थिति बहुत कम साधकों को प्राप्त होती है।

परंतु 'सिर' तो दूर, नफ़्स की स्वच्छता भी सहज साध्य नहीं है। नफ़्स इसका कारण है। नफ़्स का अर्थ है ऐन्द्रियता, चित्तवृत्ति या वासना। पाँच इन्द्रियाँ इसकी प्रतीक हैं। विषय-वासना, भोगविलास और आत्मवंचना इसके रूप हैं। इससे छुटकारा मिले तब आत्म-वृद्धि हो, परंतु इससे छुटकारा पाना कठिन है। इसी से इसे लोमड़ी, श्वान, चूहा अथवा सर्प कहा गया है। कुछ सूफ़ी, इसे इबलीस (शैतान) कहते हैं। इंसान का सब से भयंकर शत्रु यही है। साधारणतः इस पर विजय पाना असंभव है, परंतु इंसान में अल्लाह की रूह है। इस कारण सफलता संभव है। रूह अल्लाह के लिए तड़पती है। यदि यह तड़पन सच है तो नफ़्स की हार होगी। इस नफ़्स के कारण ही जीव अध्यात्म मार्ग को त्याग कर संसार-साधन में लगता है। इसी से सूफ़ी-साहित्य में नफ़्स को वश में करने या मार डालने की बात बार-बार आती है।

इंसान में 'नफ़्स', 'रूह' और 'अक़्ल' ये तीन चीज़ें होती हैं। 'अक़्ल' का अर्थ है इल्म या बुद्धि-विलास। सूफ़ियों की दृष्टि में यह भी साधक के मार्ग में इतनी ही बाधक है जितनी 'नफ़्स' (चित्तवृत्ति)। सूफ़ी बुद्धि-विलास को बेकार समझते हैं, परंतु प्रज्ञा (मुआरिफ़) को सहायक मानते हैं। वास्तव में जीव की सात्विक मूल स्थिति 'रूह' है। नफ़्स और अक़्ल इस सात्विक स्थिति को नष्ट कर देते हैं। इनका साधन है 'खुदी' (अहम्)। 'अहंकर' से बड़ा शत्रु इंसान का कोई नहीं। इसी से सूफ़ी अहंकार (ख़ुदी) से लड़ता है। खुदी को मार कर वह खुदा बन जाना चाहता है। इल्म, नफ़्स और ख़ुदी से ऊपर उठकर कल्ब (प्रज्ञा या सहज ज्ञान) की बात सुनना ही साधक का ध्येय है।

(६) सूफ़ी साधना

सूफ़ी इस्लाम के अन्दर आते हैं। इस्लाम से बाहर उनको स्थान मिलना असंभव था, अतः उन्हें मुसलिम संस्कारों को अपनाना पड़ा। इस्लाम की अनेक मान्यताओं को साथ लिये बिना उसका चलना ही असंभव हो जाता और वह काफ़िर कह कर मार डाले जाते। इसी से हमें अनेक प्रकार के गुह्य की प्रवृत्ति सूफ़ी मत में मिलती है और उसमें व्यक्तिवाद और संघवाद का द्वंद भी दिखलाई पड़ता है।

इस्लाम धार्मिक संघ है। यह कोई व्यक्तिगत साधना का नाम नहीं है। मुहम्मद साहब में इसमाईल की संतानों को एक झंडे के नीचे संघटित किया और एक आक्रमणकारी कट्टर संघ के रूप में दुनिया के सामने उपस्थित किया। इसी से इस्लाम की धार्मिक व्यवस्था में संघ का रूप ही अधिक व्यक्त हुआ है। "अल्लाह एक है"—इसे तौहीद कहते हैं। यही इस्लाम का मौन-मंत्र है। यही तौहीद साध्य है। इसके साधन हैं सलात, ज़कात, सौम और हज्ज। सलात का अर्थ है पंच-वक्तः नमाज़। विशेष अवसरों पर ज़कात (दानादि)। वर्ष में एक बार एक मास की साधना रमज़ान, सौम या रोज़ा और जीवन में एक बार हज्ज। यही इस्लाम की संघ-साधना है। इससे इस्लाम का मूल रूप सामाजिक ही प्रतिष्ठित होता है, धार्मिक नहीं। सूफ़ियों की साधना सामाजिक नहीं है, वैयक्तिक है। यह संघ की साधना नहीं, हृदय की साधना है। अतः संघ या समुदाय के नियमों से उसका पालन नहीं हो सकता। किसी भी साधना में हृदय (भावनाओं) का प्रसार वांछनीय है। इस्लाम जैसा परिपाटीबद्ध सामाजिक धर्म कोमल भावनाओं का आश्रय नहीं बन सकता था। इससे सूफ़ियों को

इस्लाम के अंदर रहते हुए भी इस्लाम की नई परिभाषा गढ़नी पड़ी। बाहर तो इस्लाम की ध्वजा स्थापित करके ही छुटकारा था, हाँ, अंतःपुर एकदम बदल गया। बाहर इस्लाम के सारे उपकरण ग्रहण कर लिये गये परंतु उनकी व्याख्या बहुत कुछ इस तरह की गई कि शीघ्र ही उनसे छुटकारा हो गया। उपर्युक्त तौहीद के साधनों (सलात, ज़कात, सौम और हज्ज) को ही लीजिये। सलात का अर्थ है अल्लाह की प्रशंसा, मुहम्मद का गुण-गान, सदाचार की साधना। जुमे का समारोह भी सलात का ही एक अंग है वैसे सलात एकांत में भी हो सकती, परंतु जब वह समारोह में होगी तो उसका नायक इमाम होगा। सलात के अनेक भेद हैं और भिन्न-भिन्न प्रकारों की सलातों के भिन्न-भिन्न समय हैं। नियमित या नित्य उपासना को सलात के नियमों में बांध कर पंचवक्तः नमाज़ का रूप दे दिया गया है। इस प्रकार इस्लाम मतावलंबियों को सूत्रबद्ध करने में सलात सब से अधिक सहायक है। अल्लाह शासक है। अत्यंत विनम्रता से उसके प्रति दास्य भावना को स्वीकारोक्ति सलात का प्रधान अंग है। सूफ़ियों में सलात को नया रूप दिया। इमाम की जगह गुरु ने ली। वही अगुआ रहा। सलात में नामस्मरण है, सूफ़ी-मत में भी है, परंतु सूफ़ियों में नामस्मरण नामस्मरण-मात्र नहीं। वह विह्वल आत्मा की तड़पन है। सलात के अनेक आसनों का स्थान 'ज़िक्र' को मुद्राओं ने ले लिया। इस प्रकार इस्लाम में प्रकारान्तर से योग की मुद्राओं का समावेश हो गया। ज़कात का अर्थ है दान। प्रत्येक मुसलिम दान के रूप में उसे कर समझ कर कुछ दे, मुहम्मद साहब ने कुछ ऐसी व्यवस्था की। इससे अंततः संघभाव को ही बल मिलता, धनी निर्धन एक हो जाते। सूफ़ियों ने दया, दाक्षिण्य या उपकार के रूप में

इस भावना को व्यापकता दे दी। 'सर्व-त्याग' या 'संन्यास' के रूप में इस भावना का प्रचार होने लगा। दीनता के गीत गाये जाने लगे। फलस्वरूप सूफ़ी काम-धाम छोड़ बैठे और राम-आसरे रहने लगे। एक पक्ष के लोग कहते कि ख़ुदा के बंदों को भी कर्म करना चाहिये (कस्व)। और लोग कहते कि भक्तों को 'तवक्कुल' (संतोष) से काम लेना चाहिये। अतः ज़कात का अर्थ यह हो गया कि सूफ़ी सब कुछ त्याग दें और स्वयं भी परमात्मा के अर्पण हो जायें। इस प्रकार कर्म-प्रधान इस्लाम को सूफ़ियों ने निवृत्ति-प्रधान संन्यास मार्ग बना दिया।

सौम का तात्पर्य केवल संयम मात्र है। वर्ष में एक महीने के लिए खान-पान, निद्रा और भोग का नियमन संघशक्ति बढ़ाने के लिए ही है। उपवास इसका प्रधान अंग है। रमज़ान के महीने को सौम (तप) के लिए चुना गया। इसी महीने क़ुरान का अवतरण हुआ था। मुहम्मद साहब का उत्कर्ष और उनके विरोधियों का पतन भी इसी महीने हुआ। सौम (फ़ारसी में 'रोज़ा' का नाम) इस महीने की विशेषता बना। सूफ़ी तो 'तप' में विश्वास ही करते थे। उन्होंने आहार-शुद्धि, उपवास और कृच्छ्र साधनाओं का अत्यंत विस्तार कर दिया। कुछ सूफ़ी तो वर्ष भर इन तप-साधनाओं में लगे रहते और इसलिए केवल महीने भर की साधना को ढोंग कहते। वे 'जिन्द' या 'आज़ाद' कहलाये। रही हज्ज। जीवन में एक बार काबा पहुँच कर 'संग असवद' (काले पत्थर) को चुंबन देना सूफ़ियों को कहाँ तक पसंद आ सकता है! सलात (नमाज़) में भी उपासक का मुँह काबा की तरफ़ होना चाहिये। सूफ़ी स्वतंत्र-चेता थे। केवल रस्म के लिए हज्ज की बात को मानना उनके लिये कठिन था। उन्होंने कल्ब में ही

क़िबला' (संग असवद) की उपस्थिति मानी। अल्लाह तो सब के हृदय के भीतर ही निवास करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तौहीद (वहदत = जीव-ब्रह्मैक्य) की अवस्था को प्राप्त करने के लिए क़ुरान में जो साधन दिये थे, उन्हें सूफ़ियों ने नये अर्थ देकर स्वीकार कर लिया। सलात और हज्ज की उन्होंने विशेष चिंता नहीं की। ये तो रस्म-मात्र थीं। ये व्यक्ति की साधना नहीं, समाज-गत साधनाएँ थीं। परंतु ज़कात (दान, सर्वत्याग या आत्मसमर्पण) और सौम (उपवास, व्रतादि) को उन्होंने नये रंग से अपना लिया।

सूफ़ी साधना की सबसे पहली सीढ़ी 'शरीअत' है। वास्तव में यह साधारण इस्लामी कर्मकांड है। सूफ़ियों ने इसे पहली मंजिल के रूप में इसलिये स्वीकार कर लिया है कि उनकी साधना इस्लाम की साधना से भिन्न नहीं लगे। शरीअत के 'मुक़ामात' हैं तोबा, ज़हद, सब्र, शुक्र, रिज़ाअ, खौफ़, तवक्कुल, रज़ा, फ़िक्र और मोहब्बत। वास्तव में सूफ़ी साधना का आरंभ 'मोहब्बत' से होता है। सब के पहले तो मोमिन (अल्लाह के प्यारे) को उन बातों का त्याग तथा पश्चात्ताप करना पड़ता है जो अल्लाह के रास्ते में बाधक हैं (तोबा)। फिर उन्हें इन बाधाओं से लड़ना पड़ता है (ज़हद)। प्रयत्न में सफल होने पर उसे सब्र (संतोष) का सहारा लेना पड़ता है, नहीं तो उसमें अहम् (गर्व) का उदय होगा और उसकी साधना नष्ट हो जायगी। शैतान भुलावा देने के लिए बराबर तैयार है। इसलिए उसे अल्लाह का 'शुक्र' मानना पड़ेगा। ईश्वर के आदेश पर चलना (रज़ाअ), उससे भयभीत रहना (खौफ़), जीविका के लिए इधर-उधर न भटकना (तवक्कुल) तटस्थ हो ईश्वर का ध्यान करना (रज़ा) अन्य मंज़िलें हैं।

अंत में अल्लाह की प्रीति (मोहब्बत) का जन्म होता है। अंतिम मंज़िल (मोहब्बत) तक पहुँच कर मोमिन सूफ़ी बन जाता है और वह शरीअत से आगे बढ़ कर तरीक़त में प्रवेश करता है।

इसके बाद मोमिन साधक (सालिक) बन जाता है और उसे किसी भेदिये (मुरशिद) की आवश्यकता पड़ती है। मुरशिद ही उसे तरीक़त के रहस्यों का परिचय कराता है। साधक (सालिक, आविद) में जिस बात का होना आवश्यक है वह है तीव्र लगन। जब मुरशिद जान जाता है कि मुरीद (शिष्य) में लगन पैदा हो गई, तो वह उसे चित्तवृत्तियों के निरोध (जेहाद) की शिक्षा देता है। इस क्षेत्र में सफलता पाने पर सालिक में म्वारिफ (प्रज्ञा) का जन्म होता है और वह 'आरिफ़' बन जाता है। म्वारिफ के उदय होने से परमात्मा (अल्लाह) के स्वरूप की चिन्ता करने लगता है। विरह उसकी साधना बन जाता है। धीरे-धीरे वह तरीक़त को पार करके हक़ीकत के क्षेत्र में पहुँच जाता है। 'हक़ीकत' की साधना का अंत वस्ल (महामिलन) में होता है। धीरे-धीरे साधक फ़ना की दशा तक पहुँच जाता है। उसे स्मरण भी नहीं रहता कि वह प्यारे से भिन्न है और अंत में द्वन्द्वों से ऊपर उठकर वह 'अन-अल-हक़' (मैं हक़ हूँ) चिल्लाने लगता है।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि सूफ़ी साधना की चार मंज़िलें मानते हैं : (१) शरीअत, (२) तरीक़त, (३) मारिफ़त और (४) हक़ीक़त। शरीअत इस्लामी कर्मकांड से भिन्न नहीं है। वास्तव में सूफ़ी साधना तरीक़त से आरंभ होती है। जब तक मुआरिफ़ (प्रज्ञा) का उदय नहीं होता है, तब तक

'तरीक़त' है। इसमें भी कर्मकांड ही अधिक है। वस्तुतः प्रज्ञा के उदय के बाद जब साधक मारिफ़त में प्रवेश करता है, तभी सच्ची सूफ़ी-साधना का आरंभ होता है। प्रज्ञा (मुआरिफ़) द्वारा ही साधक 'हक़ीक़त' की दशा को प्राप्त होता है। हक़ीक़त साधक की साधनावस्था नहीं, अनुभूति की अवस्था है। वास्तव में हक़ीक़त ही सूफ़ी-साधना का अंतिम ध्येय है। सालिक की सारी साधना इसी तुरीयावस्था की प्राप्ति के निमित्त होती है। इस साधना में सबसे बड़ी सहायता 'मुआरिफ़' (प्रज्ञा) से मिलती है। इल्म बंदे को खुदा से अलग करता है, मुआरिफ (प्रज्ञा) मिलाती है। संतों ने भी इसी प्रज्ञा या सहजानुभूति (Intution) को प्रधानता दी है। इल्म का संबंध हदीस, सुन्ना, इज्मा, क़यास आदि से संबंध है। मुआरिफ़ में इनका कोई महत्व नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धीरे-धीरे सालिक मूल इस्लामी भावना से हटता जाता है। अष्टछाप के कवियों और पुष्टिमार्ग ने जिसे 'पुष्टि' या 'अनुकंपा' कहा है, वही मुआरिफ़ है। अल्लाह की अनुकंपा के द्वारा ही प्रज्ञा (मुआरिफ़) जाग्रत हो सकती है। प्रज्ञा के जाग्रत होने से अल्लाह के जमाल के दर्शन होते हैं। क़ुरान में अल्लाह का जलाल ही साधना का लक्ष्य है। सूफ़ी जलाल को महत्व नहीं देते। वह तो बंदे और खुदा में भेद उत्पन्न करता है। वह जमाल (प्रेममय रूप) के ही उपासक हैं। कभी-कभी सूफ़ी शरीअत और तरीक़त के बिना भी सीधे हक़ीक़त की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। अनायास ही प्रियतम का साक्षात्कार उन्हें हो जाता है। ऐसे सूफ़ी संबद्ध साधना को स्वीकार नहीं करते। उनकी साधना पूर्णरूप से वैयक्तिक है। इन्हें 'आज़ाद', 'बेशरा', 'ज़िंदीक', 'ज़िन्द' आदि कहा जाता है।

एक तरह से सूफ़ी साधना की ये चारों सीढ़ियाँ (शरीअत,

तरीक़त, मारफ़त और हक़ीकत) भारतीय उपासना-विधियों से मिलती-जुलती हैं। इन्हें भारतीय दार्शनिक परंपरा में क्रमशः कर्मकांड, उपासनाकांड, ज्ञानकांड, भक्तिकांड कहा जा सकता है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में ये अलग-अलग मार्ग हैं, परंतु सूफ़ी साधना में साधक (सालिक) कर्म, उपासना और ज्ञान के क्षेत्रों को पार करके क्रमशः भक्ति को प्राप्त होता है। वास्तव में हक़ीक़त (भक्ति) ही सर्वोपरिकांड है, अतः एक तरह से सूफ़ी भक्त ही कहे जायेंगे। सिर्र की अवस्था को प्राप्त सूफ़ी सालिक भारत का 'परमहंस' ही है। यहाँ वाशरा और वेशरा सूफ़ियों में भी थोड़ा भेद कर देना होगा। वाशरा सूफ़ी लोक-रंजन के लिये शरीअत का पालन करते हैं, परंतु वेशरा शरीअत और तरीक़त के क़ायल नहीं।

(७) साधना के सहायक अंग : ज़िक्र, मराक़बा, समाअ

सूफ़ी साधना के प्रधान अंग ज़िक्र मराक़बा और समाअ हैं। ज़िक्र को योगासन और जप कहा जा सकता है। ज़िक्र में सूफ़ी भिन्न-भिन्न आसनों से बैठते हैं और तसबीह (माला) हाथ में लेकर जप (नाम-जप) की साधना करते हैं। ज़िक्र जली में नाम-जप वाणी द्वारा होता है। ज़िक्र खफी में केवल मन नाम-जप में भाग लेता है। यह पहले से अधिक उच्च अवस्था है। दोनों जापों का मंत्र एक ही है। 'ला इलाह इल्लिललाह'। जली में साधक इसी मंत्र का उच्चारण ज़ोर-ज़ोर से करता है, खफी में मौन मंत्र में इसका उच्चारण करता है। जली मंत्र की साधना है। खफी हृदय की एकांत साधना। ज़िक्र (नामस्मरण) के बाद फ़िक्र (चिंतन या ध्यान) का उदय होता है जो धीरे-धीरे मुराक़बः (समाधि) में परिवर्तित हो जाता है।

ज़िक्र का सबसे प्रधान अंग 'समाअ' (संगीत) है। इस्लाम के पीरों ने इसी 'समाअ' के कारण सूफ़ियों का घोर विरोध किया है। तसव्वुफ (सूफ़ीमत) के कुछ संप्रदाय स्वयं समाअ को साधना रूप से स्वीकार नहीं करते। समा में नृत्य-संगीत का जो संग्रह था वह इस्लामी सामी-परंपरा के एकदम विपरीत था। परंतु धार्मिक वातावरण के निर्माण में नृत्य और संगीत का प्रधान हाथ रहता है।

"Dancing in order to arouse a divine furore is not of course confined to the religion of the Savages and of Mohammadans. Civilised Europe has had its dancing sects and new ones continue to appear now and again." (The Psychology of Religious Mysticism, P. 715).

इसीसे सूफ़ी नृत्य-संगीत की अवहेलना नहीं कर सके। कदाचित् बौद्ध सिद्धों के रहस्यवादी साहित्य का प्रभाव भी सूफ़ियों पर पड़ा हो जिसमें नृत्य-गान और मद्पान की व्यवस्था थी। वैष्णव धर्म में संकीर्तन के रूप में इनकी योजना है।

(८) साधक की रहस्यमयी यात्रा : 'मुक़ामात'

आत्मा और परमात्मा (अब्द और अल्लाह) की व्याख्या करते हुए प्रारंभिक सूफ़ी विचारकों ने नासूत, लाहूत, मलकूत और जबरूत हैं। नासूत नरलोक, मलकूत देवलोक, जबरूत ऐश्वर्य लोक और लाहूत माधुर्यलोक। वस्तुतः क़ुरान में इस तरह के लोकों की कोई कल्पना नहीं थी। यह सूफ़ियों की मौलिक ईजाद थी। उन्होंने अल्लाह को किसी सातवें आसमान के शासक के रूप में देखना नहीं चाहा, अतः ऐश्वर्य लोक (जबरूत) से बहुत ऊपर लाहूत (माधुर्य लोक) में उसकी प्रतिष्ठा की। परन्तु धीरे-धीरे यह ब्रह्मांड के बाहर के

लोकों की कल्पना सूफ़ी साधना का अंग बन गई और साधक की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ इन नामों से पुकारी जाने लगीं। नासूत जाग्रतावस्था, मलकूत स्वप्नावस्था, जबरूत सुषुप्ति की अवस्था और लाहूत तुरीयावस्था। हाहूत को सबसे ऊपर सत्यलोक कहा गया। परन्तु अधिकांश सूफ़ियों ने हाहूत को स्वीकार नहीं किया। साधना की अवस्था में सूफ़ी क्रमशः जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति की अवस्थाओं में होता हुआ तुरीयावस्था को प्राप्त होता है।

इन चार लोकों (अन्तः-क्षेत्रों) के अतिरिक्त सूफ़ी-साधना में सात मुक़ामातों (भूमियों) की भी कल्पना हुई है। ये सात मुक़ामात हैं अबूदिया, इश्क़, ज़हद, मुवारिफ़, वज्द, हक़ीक़ और वस्ल। वस्ल-प्राप्ति के बाद अहंभाव का अंत हो जाता है और 'बक़ा' का आनन्द प्राप्त होता है। जीव की दृष्टि से वह 'फ़ना' में विहार करने लगता है। परमात्मा की दृष्टि से जो बक़ा है, वही जीव की दृष्टि से फ़ना है। यही तसव्वुफ के सात 'महल' हैं। इन सात साधना-भूमियों को साधारण परिभाषा के द्वारा समझाना असंभव है। मुर्शिद (गुरु) द्वारा ही इनका रहस्य जाना जा सकता है।

(६) प्रतीक

सूफ़ियों के वाद-विवादों और साहित्य में प्रतीकों (Symbols) का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है। कदाचित् संसार के किसी साहित्य में प्रतीकों का इतना अधिक, इतना व्यापक प्रयोग हुआ हो जितना सूफ़ियों के साहित्य में। कहीं-कहीं प्रतीक इतने अधिक इकट्ठे हो जाते हैं कि उनके पीछे के मंतव्य को समझना कठिन हो जाता है। जिन-जिन धार्मिक संप्रदायों ने गुह्य को साधना का अंग बनाया, उन-उन संप्रदायों

के साहित्य में प्रतीक बराबर मिलते हैं। भारतीय साहित्य में उपनिषद्, योग, सिद्ध और संत-साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ। इसीसे सूफ़ी भावना को भली भाँति समझने के लिए प्रतीकों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। आज युगांतर में चाहे प्रतीकों के पीछे के अर्थों की व्यंजना धुँधली हो जाती हैं, साधना के उस प्रारंभिक काल में वह साधना में पूर्णरूपेण सहायक होंगे, इसमें सन्देह नहीं। किसी विशेष विंचार या भावना के लिये किसी चिन्हविशेष का प्रयोग उस विचार या भावना के प्रचार एवं प्रसार में सहायक होता है। कालांतर में प्रयोग-बाहुल्य के कारण प्रतीक रूढ़िग्रस्त हो जाते हैं।*

सूफ़ी मत में 'रति' (प्रेम-भाव) की प्रधानता है। रति का मुख्य उद्दीपन या उसकी मादकता का सबसे सुंदर चिन्ह मदिरा (सुरा) होने के कारण सूफ़ी साहित्य में सुरापान को लेकर एक व्यापक रूपक का निर्माण कर लिया। साक़ी माशूक़ है। वह अल्लाह का रूपक है। इसी से अल्लाह के सौन्दर्य के नाते साक़ी के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन सूफ़ी साहित्य का क, ख, ग बना। अल्लाह को पुरुष के रूप में स्वीकार करने के फल-स्वरूप साक़ी भी स्त्री नहीं, पुरुष हुआ। हव्वा (आद्या या आदि नारी) के कारण ही आदम अदन (स्वर्गीय नंदन) से निकाले गये थे। नारी केवल प्रलोभन मान कर उपदेश और लांछा की वस्तु हो गई। इसी से सूफ़ी साहित्य में 'किशोर'-वय पुरुष

*In religion, symbolism is a help and a hinderance. It provides a sign for an idea and is useful in recalling the idea. But, when, instead of recalling, it replaces the idea, it becomes a menance." (Origin and Evolution of Religion. Hopkins. P. 45).

के लिए आग्रह है। बाद को इसीने अमरद-परस्ती का रूप धारण किया। अधिकांश सूफ़ी कवि 'अमरद' (किशोर) को ही अपना प्रतीक बनाते हैं और उसी के प्रेम में पागल घूमते हैं। गुलामों के रूप में सुन्दर बच्चों को माशूक़ बनाया गया। तुर्क, मग और ईरानी और फिर हिन्दुस्तान में बिरहमन-जादा माशूक़ बने। जहाँ-जहाँ मुसलमान विजयी के रूप में गये, वहां-वहां 'अमरद' के नये-नये रूप 'अल्लाह' के प्रतीक के रूप में ग्रहण हुए। सूफ़ियों के लिए जो अमरद प्रतीक मात्र था, वही साधारण जनों और धनी विलासियों के लिए मनोरंजन और आत्मतृप्ति (वासना) का विषय हो गया। परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि नारी-सौन्दर्य को सूफ़ियों ने कभी प्रतीक नहीं बनाया। अरबी, रूमी और जामी के अनुसार अल्लाह कभी-कभी स्त्री के रूप में भी दर्शन दे देता है। वास्तव में प्रतीक तो 'हुस्न' (सौन्दर्य) है। फिर वह चाहे नारी सौन्दर्य हो, या पुरुष-सौन्दर्य। अल्लाह का जमाल ही तो हुस्न (सौन्दर्य) के रूप में प्रकाशमान है। अतः नारी-पुरुष के यौन-संबंध के सारे कार्य-व्यापार आध्यात्मिक व्याख्या द्वारा पूत बना लिये गये।

सुरापान का अर्थ हो गया दैवी उल्लास। इसी उल्लास के कारण शराब को भी प्रतीक का स्थान मिला। हाँ, सूफ़ियों की शराब साधारण शराब नहीं है, वह शाश्वत आनंद प्रदान करने वाला अमृत है। इस रूपक के भीतर से सूफ़ियों ने अपने विरोधियों की भी पूरी खबर ली। इसी सूफ़ी साहित्य में शेख़, जाहिद, क़ाज़ी और मुल्ला आदि पर व्यंगों की बौछार मिलती है। ये सब मूल इस्लामी धर्म (सामी मत) के अनुयायी हैं और सूफ़ियों का प्रेम-मार्ग इनकी शासक-शास्ता

की भावना के विपरीत है। अतः इन्हें पाखंड का प्रतीक बनाया गया है और सूफ़ी शायरी में इनकी बड़ी दुर्गति हुई है।

सूफ़ी-साहित्य में साक़ी के प्रतीक का व्यापक प्रयोग हुआ है। उनके अंग-प्रत्यंग को साधना का केन्द्र बनाया गया है। उसके "नखशिख में मुख की प्रधानता होती है। उसका वर्णन प्रायः सभी कवि खूब करते हैं। पर उसका प्रकट दर्शन कितनों को होता है? परदे के भीतर का दीदार ही तो तसव्वुफ़ का सब कुछ है! केश सूफ़ियों का मुख्य प्रतीक है। उसकी कालिमा, उसकी कांति एवं उसका विस्तार प्रेमियों के लिए मनोरम और आकर्षक तो हैं ही सूफ़ी उसको माया का रूप समझते हैं। प्रियतम अपने बालों के आवरण और विक्षेप से प्रेमियों को नचाता रहता है। उनका दिल इन्हीं में उलझ कर रह जाता है। कटाक्ष भी तो क़ुसुम-बाण हैं जो हृदय को बिद्ध कर प्रियतम के प्रेम में प्रेमी को अचेत कर देते हैं और फिर कभी उसको प्रेम से मुक्त नहीं होने देते। ऐसे ही प्रियतम के प्रत्येक अंग किसी भावना के द्योतक हो तसव्वुफ़ के प्रतीक बन जाते हैं और सूफ़ी अपने काव्य में उनका प्रयोग कर प्रेम की व्यापकता को प्रशस्त करते हैं" (तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत, पृ० १०८)। क़फ़स (पिंजरे) और बुलबुल के प्रतीक से सूफ़ी देहबद्ध आत्मा की अशांति को प्रकाशित करते हैं। बुलबुल चमन के लिये तड़पती है, सूफ़ी तादात्म्य का अनुभव कर स्वतंत्र होने के लिये। सूफ़ी काव्य में बुलबुल विरही आत्मा की अन्यतम पुकार है। आबो-माही (जल-मीन) और नग़मए नै (बाँसुरी की दर्द भरी आवाज़) भी इसी भावना को प्रकट करने के साधन हैं। विश्व के कण-कण में विरह-व्यथा भरी है। जो कुछ भी गो-गोचर है, वह सब प्रियतम

की खोज में आकुल हो रहा है। इस खोज का कहीं अंत नहीं है।

सूफ़ियों की साहित्य-चेष्टाओं में प्रतीकों का स्थान महत्व-पूर्ण है। इन्हीं के आधार पर अन्योक्तियों का बड़ा सुन्दर समाधान सूफ़ी-साहित्य में मिलता है। सामान्य उक्तियों की अपेक्षा अन्योक्तियों में विशेष चमत्कार रहता है। हिंदी कविता में कबीर की अन्योक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, जैसे

चलि चलि रे भँवरा कवल पास।
भँवरी बोले अति उदास ॥ टेक ॥

तैं अनेक पुहुप कौ लियौ भोग। सुख न भयौ तब बढ्यौ रोग ॥
हौं ज कहत तोसों बार-बार। मैं सब बन सोध्यो डार-डार ॥
दिना चारि के सुरंग फूल। तिनहिं देखि कहा रह्यो है भूल ॥
या नवासपती मैं लागेगी आगि। तब तूँ जैहो कहाँ भागि ॥
पुहुप पुरान भये सूक। तब भँवरहि लागी अधिक भूख ॥
उड्यौ न जाइ बल गयौ है छूटि। तब भँवरी रूनी सीस कूटि ॥
दस दिसि जोवै मधुप राह। तब भँवरी ले चली सिर चढ़ा ॥
कहै कबीर मन को सुभाव। राम भगति बिन जन को डाव ॥

संसार के सारे रहस्यवादी काव्य में अन्योक्ति का विशद प्रयोग हुआ। अन्योक्ति के द्वारा अनेक ऐसे संस्कार जाग्रत किये जाते हैं जो हमारे अर्द्ध चेतन (Unconscious mind) में वासना के रूप में पड़े रहते हैं। ऊपर के उद्धरण में भँवरा आत्मा का प्रतीक है, कमल परमात्म-सत्ता का। हृदय स्वतः इस बात को समझ लेता है। उसे समझने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार का संकेतात्मक काव्य सूफ़ी-साहित्य की विशिष्ट वस्तु है। समासोक्ति का भी प्रयोग विशद रूप से हुआ है। समासोक्ति में सारी कथा प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत को

साथ-साथ लेकर चलती है। कहानी की कहानी और रूपक का रूपक। उर्दू-फ़ारसी की मसनवियाँ और हिन्दी के सूफ़ी प्रेमात्मक काव्य वस्तुतः समासोक्ति ही हैं। इस दोहरी चेष्टा के कारण कहीं-कहीं पर मंतव्य अस्पष्ट हो गया है और कहीं-कहीं कहानी कला से दूर जा पड़ी है। प्रारंभिक सूफ़ियों ने यूसुफ़ और जुलेखा, लैला और मजनूं, और शीरीं-फ़रहाद जैसी लोक-प्रचलित कथा अपनाया और प्रेम-भाव के प्रवाह में पड़ कर उन्हें लिखा। उन्होंने जीवन की व्याख्या नहीं की, अपने सिद्धांतों को लेकर कथा में जोड़-तोड़ लगाने वह नहीं बैठे, परंतु जिस गहरी अनुभूति को उन्होंने अपनी प्रेम-कथाओं में भर दिया, वह उन्हें लौकिक स्तर से उठाकर आध्यात्मिक भूमि पर ले गई। वास्तव में 'मसनवी' छंद का नाम है। इस छंद में सूफ़ियों ने इतनी प्रेम-कथाएँ लिखीं और वे इतनी लोकप्रिय हुईं कि इन कथाओं को 'मसनवी' ही कहने लगे। वास्तव में मसनवी आख्यात्मक काव्य है। अवध के सूफ़ियों ने अपभ्रंश काव्य, सिद्धों की कविता एवं अपने समय में प्रसिद्ध अवधी काव्यों में दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग देखा और इसी से इन्होंने इन छंदों को अपने आख्यात्मक काव्य का माध्यम बनाया। सच तो यह है कि हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य अवध मसनवियाँ ही हैं। इन्हें इसी रूप में अध्ययन करना ठीक होगा। आख्यान के रूप में दृष्टांत सहज-गम्य होते हैं। उनसे विशेष मतवाद के प्रचार में सहूलियत भी मिलती है। इसी से सूफ़ी काव्य की प्रिय शैलियाँ संवाद, आख्यान और दृष्टांत हैं। ग़ज़ल भी उनकी अत्यंत लोकप्रिय शैली है, परंतु ग़ज़लों में सूफ़ी सिद्धांतों की विशद व्याख्या नहीं हो सकती थी। इसलिए संवाद, आख्यान और दृष्टांत ही सूफ़ी कवियों और साधकों को विशेष रूप से प्रिय रहे। मौलाना रूमी की

मसनवी तो 'पहलवी का कुरान' कही जाती है। साहित्य और दर्शन का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य रूमी की मसनवी में हुआ है, वह संसार के इतिहास में दुर्लभ है। वास्तव में सूफ़ी मसनवियों में पुराण और जातकों की कथा द्वारा सिद्धांतों के प्रचार वाली परंपरा ही पुष्ट हुई है। जो चाहे कथा का रस ले, जो चाहे कथा के पीछे छिपे अध्यात्म रस का पान करे। इस तरह सूफ़ी कट्टर मुल्लाओं और पीरों की क्रूर दृष्टि से भी बच गए।

मसनवी और ग़ज़ल के अतिरिक्त सूफ़ी-साहित्य में रुबाई का भी प्रयोग हुआ है। रुबाई छंद में विशेष रूप से व्यंग्यात्मक उक्तियाँ कही जाती हैं और ज़ाहिद, शेख़ आदि इसके लक्ष्य होते हैं। इस प्रकार सूफ़ी साहित्य में तीन शैलियाँ विशेष रूप से प्रचलित रहीं—(१) मसनवी (२) ग़ज़ल (३) रुबाई। मसनवी कथात्मक काव्य था। इसमें सूफ़ी संदेशों के रूपक के रूप में उपस्थित किया जाता। रूपक नर-नारी के लौकिक प्रेम का होता और शैली भावुकता के द्वारा उसे अलौकिक प्रेम का प्रतीक बनाया जाता। प्रेम-मार्ग की कठिनाई और विरह का चित्रण विशेष रूप से होता। कथायें जन-प्रसिद्ध होतीं। उनमें ऐतिहासिकता विशेष नहीं रहती। यदि कथा ऐतिहासिक होती तो भी इतिहास की रक्षा करने का प्रश्न नहीं उठता था। कथा का अलौकिकता-परक भावात्मक विकास ही लक्ष्य होता। ग़ज़ल में सूफ़ी कहानी का माध्यम छोड़ देते और स्पष्ट रूप से प्रतीकों के आधार पर भावना का प्रकाशन करते। रुबाई विचारों और व्यंग्यों को प्रकट करने का माध्यम थी और उसमें बुद्धितत्त्व की प्रधानता थी।

जैसे-जैसे सूफ़ियों का विरोध होता गया, वैसे-वैसे गुह्य की भावना बढ़ती गई। पहले प्रतीक आये। ये प्रतीक लौकिक

और पारलौकिक दोनों पक्षों पर लागू होते थे और इनकी आड़ में इस्लाम-विरोधी बात भी सरलता से कह दी जा सकती थी परंतु धीरे-धीरे ये प्रतीक भी सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हो गये, अतः सूफ़ियों ने कबीर की उलटबाँसियों की तरह विरोधात्मक प्रतीकों का व्यापक प्रयोग किया। समकालीन सिद्धों, नाथों (जोगियों) और संतों एवं पश्चिमी मसीही संघों में इस प्रकार के विरोधात्मक प्रतीकों का प्रयोग अत्यंत प्रिय हो रहा था, और कदाचित् भोले-भाले, प्रेम-रस में डूबे इस्लामी सूफ़ी भी इनके आकर्षक से नहीं बच सके। कुछ सूफ़ी वस्तुतः भावना में बहुत ऊपर उठ गये थे। वेदांतियों की भाँति अनल-हक़्क़ (अहम् ब्रह्म) का अनुभव होने पर इस अनुभव के प्रकाशन के लिए उपयुक्त भाषा का मिलना असंभव था। अतः विरोधात्मक प्रतीकों से काम लिया गया। किसी ने कहा, नमाज़ के वक्त इमाम का मुँह मेरी ओर रहता है, काबा की तरफ़ नहीं। इस प्रकार आत्मा के परमात्मतत्व की ही घोषणा की गई। किसी ने आदम को अपना पुत्र कहा, किसी ने माता से प्रणय की बात कही। यहाँ साधक ब्रह्म-भाव से कह रहा है। साधारण जन इस बात को न समझ कर चमत्कार के फेर में पड़ जाते हैं। धीरे-धीरे विरोधात्मक प्रतीकों का प्रयोग भी पाखण्डियों के हाथ में पड़ने लगा।

(१०) सूफ़ी साहित्य

सूफ़ी साहित्य की तीन प्रधान शैलियों के संबंध में हम पीछे लिख चुके हैं। इस साहित्य में प्रतीकों का विशद रूप से प्रयोग हुआ है, यह भी हम बता चुके। यहाँ हमें इस साहित्य की ऐतिहासिक परंपरा पर विचार करना है।

इस्लामी विद्वानों का कहना है कि अरबों के आक्रमण से

पहले ईरानियों का कोई साहित्य नहीं था। परंतु आधुनिक खोजों से इस धारणा की पुष्टि नहीं होती। ईरानियों का सबसे पहला साहित्यकार 'जरतुश्त' है। परंतु इनका आदि धर्म-ग्रंथ कदाचित् ऋग्वेद (५००० ई० पू०—३००० पू० ई०) का सम-कालीन है। 'अवस्ता' ईरानियों का ऋग्वेद है जिसमें 'अहुरमज्द' की उपासना के भक्तिभावपूर्ण मंत्र गाये गये हैं। जान पड़ता है कि ईरानी आर्यों में कर्मकांड का ही विशेष प्रसार हुआ। यह उनकी संस्कृति बन गया। जिस प्रकार परवर्ती आर्यों ने उपनिषदों के आत्मदर्शनवाद के सहारे वैदिक कर्मकांडी मत के स्थान पर एक नई, सूक्ष्म भावना का आविष्कार किया, उस प्रकार की बात ईरानी धर्म संस्कृति में नहीं मिलती। परंतु कुछ स्वतंत्रचेत्ता अवश्य रहे होंगे और प्रारम्भिक ईरानी साहित्य को उन्होंने प्रभावित किया होगा, इसमें संदेह नहीं। इस्लाम के आक्रमण के कुछ समय बाद ही ईरानी सूफ़ियों और कवियों ने प्रेम और विरह की जो नई रागनियाँ अलापीं, वह इस्लाम की देन तो थीं नहीं। अवश्य ही उनकी कोई ईरानी परम्परा रही होगी। यह परम्परा नये रूप में अरबी और फ़ारसी सूफ़ी काव्य में हमें मिलती है, यद्यपि इस्लाम से पहले का सारा ईरानी काव्य नष्ट हो चुका है। जान पड़ता है, दीन के जोश में अरबों ने सारे ईरानी साहित्य को नष्ट कर दिया। संसार के इतिहास में किसी देश के वाङ्मय का इतना बड़ा सर्वनाश कभी नहीं हुआ है।

इस्लाम के आने के बाद वर्षों तक ईरानियों ने अरबी में कविता की यही राजभाषा थी। परन्तु कदाचित् अपने अजमी (ईरानी) भावों को वे सामी (इस्लामी) भावों से दबा नहीं सके। मानी जैसे मादन-भाव प्रधान मत का ईरान केन्द्र रह चुका था। अतः नया चोला बदल कर यही मादन-

भाव सूफ़ी मत और सूफ़ी काव्य के रूप में प्रकाशित हुआ। ईरान में जो सूफ़ी साहित्य विकसित हुआ उसके तीन अंग हैं :

१—व्याख्यात्मक निबंध तथा टीका ग्रंथ। इन निबंधों में इस्लाम की नये ढंग की व्याख्या की गई है। ईरानी जातिगत साधना (मादन-भाव) का धीरे-धीरे इस्लामी सामी मत में समावेश हो जाय, जिससे उसका कठोरता नष्ट हो जाय और वह व्यक्तिगत साधना का रूप ग्रहण कर ले, यही इन निबंधकारों और टीकाकारों की इच्छा है। इस श्रेणी की रचनाओं में सब से महत्वपूर्ण है गज्ज़ाला की पुस्तक इहयाय़ुलमुईन हल्लाज की 'किताबुलतवासीन', जिली का ग्रंथ 'इंसानुलकामिल' .क़ुशैरी का 'रिसाला' और सुहरावर्दी का 'अवारिफ़ुल मुआरिफ़'। तर्क-वितर्क और पांडित्य से ये ग्रंथ भरे हैं। इनका उद्देश्य यही है कि सूफ़ियों की साधना इस्लामी मानी जाय। वैसे सूफ़ी-साधना की दृष्टि से इन ग्रंथों का विशेष महत्व नहीं।

२—सूफ़ियों के जीवनवृत्त। जिस प्रकार वैष्णवों की वार्ताएँ (८४, २५२) और भक्तमाल भारतीय भक्तों की जीवनियाँ उपस्थित करते हैं और उसी प्रकार "तज्किरातुल औलिया' (अत्तार) और 'नफ़हातुल-उंस', (जामी) जैसे ग्रन्थ सूफ़ियों के जीवन और उनके चमत्कारों को जीवित रखे है। सूफ़ी साधना में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। भक्तों के जीवन और उनकी साधना से बल नहीं लिया गया, तो बात ही क्या हुई ? सूफ़ी-परंपरा और सूफ़ी-मनोविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से भी ये ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं।

३—काव्य। सूफ़ी-साहित्य का प्राण सूफ़ियों का काव्य है। यही सूफ़ी-साधकों की सबसे महत्वपूर्ण संपत्ति है। बीसियों मसनवियाँ, हज़ारों गजलें, सैकड़ों-हजारों रुबाइयों को यह

अपार निधि विश्वसाहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वास्तव में सूफ़ियां की काव्य-रचना उनकी साधना का एक अंग है। इसी से सूफ़ी-काव्य साधारण काव्य से अधिक भावुक है। अन्योक्ति और रूपक के सहारे आत्मा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति की कला इसी साहित्य में देखने को मिलेगी। फ़ारसी के सूफ़ी कवियों में सबसे महत्वपूर्ण हैं मौलाना रूमी और मौलाना हाफ़िज़। रूमी की मसनवी 'मांतकुत्तैर' धर्म, दर्शन और काव्यकला का अद्भुत संगम है। मसनवियों में रूमी का जो स्थान है, वही ग़ज़ल में हाफिज़ का है। इन्हीं दो कवियों पर ईरानी सूफ़ी कवियों का गौरव टिका है। इनके अतिरिक्त ईरान के दो और कवि भी है सादी और फ़रदौसी। सादी मुख्यतः नीति-कवि हैं और फरदौसी महाकाव्य-प्रणेता। सूफ़ियों के प्राण तो रूमी और हाफिज़ हैं। इन दोनों कवियों और साधकों का परवर्ती फ़ारसी साहित्य पर इतना प्रभाव पड़ा कि कोई भी कवि बुलबुल-क़फ़स, लैला-मजनूं, साक़ी-शराब जैसे विषयों को छोड़ नहीं सका। व्यक्त या अव्यक्त रूप में सारा ईरानी काव्य सूफ़ी मतवाद का प्रचारक बन गया। जामी ने 'यूसुफ़ व. ज़ुलैखा' लिखकर मसनवियों की परंपरा को आगे बढ़ाया और यह परंपरा शताब्दियों तक बराबर चलती रही।

हिन्दोस्तान में जो सूफ़ी काव्य लिखा गया, वह भी कम नहीं है। वास्तव में सूफ़ियों के लिए काव्य-रचना भी साधना का एक अंग था, अतः प्रारंभ से ही काव्य लिखे गये। पिछले एक अध्याय में हम हिंदी सूफ़ी काव्य पर विचार कर चुके हैं। प्रारंभिक भारतीय सूफ़ियों में साहित्यकार के रूप में सबसे प्रसिद्ध अमीर ख़ुसरो (१२५३-१३२५) हैं। परंतु उनका सूफ़ी काव्य फ़ारसी भाषा में ही है। हिंदी में उनकी कविता केवल

मनोरंजन को लेकर ही चली। वास्तव में भारत में सब से पहले बृहद् रूप में सूफ़ी-साहित्य कबीर (मृ०१३६८) में ही मिलता है और फिर दादू, रज्जब आदि निर्गुणियों में इस साहित्य की परंपरा चलती रहती है। हिंद्वी में पहली मसनवी की रचना १४०० ई० से पहले नहीं हुई। अवधी सूफ़ी काव्य में क्रमशः सपनावति, मुगुधावति, मृगावति और मधुमालती के नाम आते हैं। मृगावती के लेखक कुतबन का समय १४६३ ई० है। इस प्रकार वे कबीर के समकालीन हुए। सपनावति और मुगुधावति उपलब्ध नहीं है, परंतु वे मृगावती से पहले १५वीं शताब्दी की ही रचनाएँ हैं। इससे स्पष्ट है कि मसनवी शैली में हिंद्वी या अवधी भाषा में पहली रचना १४०० ई० के बाद ही हुई, यद्यपि गजल और लोक-छंदों के एक शताब्दी पहले कबीर इस भावना को काव्य-विषय बना चुके थे और थोड़ी बहुत काव्य-रचना मुईनउद्दीन चिश्ती (११४२ ई०) के समय से ही हो रही होगी।

सच तो यह है कि 'सपनावती' लिखकर जिसने भी अवधी सूफ़ी-काव्य का प्रवर्तन किया, उसने बड़ा क्रांतिकारी काम किया। उसने विक्रमाजीत की जगत-प्रसिद्ध कहानी को चुना, भारतीय परंपरा में लोकप्रिय दोहा चौपाई छंद अपनाये और भारतीय साहित्य शैली को ही अपनाया। फ़ारसी मसनवी को हिंदी चोला देना सहज काम नहीं था, परंतु जब वह काम हो गया तो इस प्रकार के काव्य की एक परंपरा ही चल पड़ी जो १८वीं शताब्दी तक चलती रही। १६०० ई० के बाद दक्षिण में भी हिंद्वी या 'दकनी' में अनेक मसनवियाँ लिखी गईं, परंतु वह फ़ारसी मसनवियों की परंपरा से अधिक प्रभावित है। उनकी साहित्यिक महत्ता भी अधिक नहीं है। दक्षिण के सूफ़ी साहित्य की महत्ता ऐतिहासिक है। खड़ी बोली हिंदी के विकास के

इतिहास की दृष्टि से वह महत्वपूर्ण है। परंतु साहित्य की दृष्टि से उत्तर का सूफ़ी साहित्य ही प्रधान है। सच तो यह है कि तसव्वुफ़ (सूफ़ीमत) को सबसे उर्वर भूमि भारत में मिली सिंध-विजय (७१२ ई०) से कुछ ही बाद मुलतान सूफ़ियों का अड्डा बन गया। सिंध और पंजाब में ही सूफ़ी जोगियों (नाथों) से परिचित हुए और उनसे प्रभावित भी हुए। साधकों के रूप में इन सूफ़ी-संतों की प्रसिद्धि शासक रूप में इस्लाम के आने से पहले ही हो चुकी थी और मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२ ई०) जैसे प्रसिद्ध साधक भारत की भूमि में समाधिस्थ हो चुके थे। इस्लाम तलवार लेकर आया, सूफ़ी प्रेम की बाँसुरी लेकर। तुर्कों और पठानों ने देश की देह जीती, परंतु देश का हृदय सूफ़ियों ने ही जीता। इनके अनेक सिलसिले (संप्रदाय) प्रसिद्ध हुए जिनमें सबसे महत्वपूर्ण चिश्ती, सुहरावर्दी, क़ादिरी, शत्तारी और नक़शबंदी है। अवधी सूफ़ी काव्य जिन सूफ़ियों ने लिखे वे इन सिलसिलों से ही संबंधित थे। मंझन, कुतबन, जायसी, नूरमुहम्मद इनमें प्रसिद्ध है। स्वतंत्र (जिंदीक) सूफ़ी भी हुए। इनका संबंध किसी सिलसिले से नहीं था। वे इस्लाम-मतावलंबी हों, यह बात भी नहीं। पदों, ग़ज़लों और लोकछंदों में इन्होंने भी हिंदी सूफ़ी काव्य की रचना की। कबीर, दादू, यारी, दरिया आदि निर्गुणी मूलतः सूफ़ी हैं। इस्लाम के कट्टर प्रेमियों ने तलवार द्वारा जिस देश-व्यापी घृणा का प्रचार किया, उसे सूफ़ियों ने प्रेम की बंसी बजा-बजाकर भुलवा देना चाहा। वे बहुत कुछ सफल हुए। १८वीं शताब्दी में प्रत्येक विचारशील मुसलमान ज्ञात या अज्ञात रूप में सूफ़ी था। अनेक हिंदू भी सूफ़ी-साधना में लीन थे। और वे मुसलमानों के भी आदर के पात्र थे। प्रकारांतर में इस्लाम के प्रचार में सूफ़ियों से जो सहायता मिली

हो, उन्हें 'इस्लाम का प्रच्छन्न प्रचारक' कहना अन्याय होगा। उनकी 'प्रेम की पीर' वैयक्तिक थी। इस पीर ने जिन्हें प्रभावित किया, वे स्वतः उनकी ओर झुके। संतों, निर्गुणियों और पुष्टि-मार्गी भक्तों ने सामान्य मानव-भूमि खोज ली थी। वह थी सामान्य प्रेम-धर्म की भूमि। औरंगज़ेब के उत्पातों से यह भूमि डाँवाड़ोल हो गई। फिर भी ग़दर (१८५७) तक सूफ़ी न हिंदू था, न मुसलमान। मुसलमान वह इतना ही था कि वह काफ़िर नहीं समझा जाता था। ग़दर के बाद जो राजनैतिक वात्याचक्र चला, उससें हिंदू-मुसलमानों के अलग-अलग अखाड़े बन गये और सूफ़ियों की साधना पर पटाक्षेप हो गया।

६

मलिक मुहम्मद जायसी : जीवनी, व्यक्तित्व और रचनाएँ

हिंदी सूफ़ियों की यह प्रेम-साधना जिन कथा-काव्यों में सुरक्षित है, उनमें मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत (१५४० ई०) सबसे महत्वपूर्ण है। हिंदी साहित्य की दृष्टि से तो यह ग्रन्थ और भी महत्वपूर्ण है। ३४ वर्ष बाद (१५७४) में जब गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना की, तब यह ग्रन्थ अवश्य उनके सामने रहा होगा और कदाचित् इसकी लोकप्रियता के कारण ही उन्होंने पद्मावत की शैली और उसी के छंदों में रामकथा कही। जिस 'प्राकृत जन-गुन-गान' को तुलसी ने घृणा की दृष्टि से देखा है, वह कदाचित् रत्नसेन और पद्मावती की यही प्रेम-कहानी है। उत्तरकांड में तुलसी ने ऐसे मलिंगों की हँसी उड़ाई है जो 'प्रेम-प्रेम' चिल्लाते फिरते थे। यह सूफ़ी ही रहे होंगे। जो हो, सूफ़ी-काव्य में एक विशेष प्रकार की साधना सुरक्षित है। वह हिंदू-साधना नहीं है, इससे उसका महत्व कम नहीं हो जाता। भाषा और साहित्य की तो साधना वह है ही, इसमें तो कोई मतभेद हो नहीं सकता।

'पद्मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी हैं। जायसी की रचनाओं में अनेक स्थानों पर उनके आत्मकथन

मिल जाते हैं। इनके आधार पर हम उनकी जीवनी और उनके व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

अंतर्साक्ष्य के आधार पर पता लगता है कि जायसी का जन्म मुहम्मद साहब की नवीं सदी (ईसा की १५वीं शताब्दी) में हुआ[1]। उनके जन्म के समय कदाचित् कोई बड़ा भूकंप आया था[2] और कुछ दिनों बाद सूर्यग्रहण पड़ा था[3]। अपने जन्मस्थान के संबंध में जायसी मौन हैं, क्यों ? यह कहा नहीं जा सकता। परंतु वे जायस में पहले-पहल दस दिन के लिये पाहुने के रूप में आये थे। यहीं उन्हें वैराग्य हो गया और वे यहीं रहने लगे। इस नगर का आदि नाम उन्होंने उद्यान (उद्यान+नगर या उदयनगर) बताया है।[4] इस नगर की कुछ धार्मिक महत्ता भी उस समय रही होगी। इसी से जायसी ने उसे 'धर्मस्थान'[5] कहा है।

कवि के व्यक्तित्व के संबंध में भी थोड़ा उल्लेख है। वे कदाचित् जन्म से काने नहीं थे, परंतु बाद में बायाँ कान और

---

१ भा औतार मोर नौ सदी (जा० ग्रं०, ३८४)

२ आवत उधत-चार विधि ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र-विधि भाईं। फिरै अकास रहँट कै नाईं॥

३ सूरुज सेवक ताकर अहै। आठौ पहर फिरत जो रहै॥
सो अस बपुरै गहनै लीन्हा। औ धरि बाँधि चंडालैं दीन्हा॥

४ जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क गाँव आदि उदनानू॥
(वही पृ० ३८७)

तहाँ दिवस दस पहुँनै आएउँ। या बैराग बहुत सुख पाएउँ॥

५ जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥
(वही पृ० ६१०)

बायीं आँख जाती रही थी। कदाचित चेचक के कारण।[६] उनका कंठस्वर बड़ा मीठा था और जायस में आते ही गायक के रूप में उनकी प्रसिद्धि हो गई थी। जिसने सुना मुग्ध हो गया। कदाचित् जो गाते, वह उनकी रचना होती।[७]

अपनी रचना में जायसी ने बाबर[८] और शेरशाह का नाम लिया है[९]। उन्होंने शेरशाह को दिल्ली सुलतान लिखा है। सूर्यग्रहण और भूकंप के तिथि-वार भी हमें प्राचीन ऐतिहासिक उल्लेखों से मिल जाते हैं[१०]। सूर्यग्रहण का समय ९०८

---

६ मुहमद बाईं दिसि तजा एक सरवन, एक आंखि (वही, १८५)

७ एक नयन कवि मुहमद गुनी।
सोइ बिमोहा जेइ कबि सुनो ॥ (वही, पृ० ६)

(जान पड़ता है जायस जायसी का जन्म-स्थान नहीं था। वे दस दिन के पाहुने के रूप में चले आये, परंतु पीछे बैरागी बन गये। 'आखिरी कलाम' की रचना वैरागी बनने के बाद की बात है। संभव है इसके बाद लेखक कहीं चला गया। कदाचित् कालपी। यहीं वह सूफ़ीमत में दीक्षित हुआ और उसे अपने मोहन कंठ के द्वारा 'कवि' के नाते प्रसिद्धि भी मिल गई। यह भी संभव है पद्मावत की रचना प्रवास में हुई हो और सूफ़ी दृष्टिकोण के कारण शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गई। जायस को धर्मस्थान मान कर कवि ने उसे ही अपना स्थान बना लिया।)

८ बाबरशाह छत्रपति राजा, '०६

९ सेरसाह दिल्ली सुलतानू ॥

१० अलबदाउनी के मुन्तख़िब तवारीख़ में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

इण्डियन कलेण्डर (राबर्ट सीवेल और शंकर बालकृष्ण दीक्षित, १८९६) के अनुसार वह सूर्यग्रहण १० दिसम्बर १५०२, ई० में पड़ा था।

हिजरी (१० दिसम्बर १५०२) है और भूकंप का ९११ हिजरी। आखिरी कलाम की रचना का समय कवि ९३६ हिजरी बताता है[११]। इसी रचना में वह नवीं (या नौ = नव) सदी में जन्म की बात कहता है और तीस वर्ष की अवस्था में कविता-रचना की बात[१२]। पद्मावत में जायसी ने इसका रचनारंभ काल ९४७ हिजरी कहा है[१३]। परंतु इसे कुछ लोग लिपिभेद से ९२७ भी पढ़ते हैं[१४]। इन सब तिथियों में संगत बिठाना कुछ कठिन काम हैं। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ का का कहना है कि 'आ.खिरी कलाम' जायसी की अंतिम रचना है। रचना-काल निर्विवाद रूप से ९३६ हिजरी है। अतः पद्मावत इससे पहले की रचना होनी चाहिये। इससे उनके विचार में पद्मावत की तिथि ९२७ हिजरी है। परंतु ९२७ ई० में इब्राहीम लोदी का राज्य था, अतः कथारम्भ में कवि शाहेवक्त के रूप में शेरशाह को याद नहीं कर सकता था। इसकी पटरी यों ठीक बिठाई गई कि वास्तव में ग्रंथ-रचना का आरंभ ९२७ ई० में इब्राहीम लोदी के शासन-काल में हुआ और उसका अंत शेरशाह के समय में। कवि ने "भूतकालिक क्रिया का प्रयोग

---

११ नौ सौ बास छत्तिस जब भए।
तब एहि कथा के आखर कहे ॥

१२ भा अवतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी ॥

१३ सन नौसै सैंतालिस अहा।
कथा अरंभ बैन कवि कहा ॥

१४ सन नौ सै सत्ताइस अहा। फ़ारसी लिपि में यदि नुक़ते हटा दिये जायें तो सैंतालिस और सत्ताइस एक ही तरह लिखे जायेंगे।

करते हुए प्रारंभ-काल दिया और सामयिक राजा के रूप में शेरशाह की प्रशंसा की।" ईसाई संवत् के रूप में ६२७ का अर्थ है १५२० ई०। इब्राहीम लोदी का समय १५१६—२० है। १५२० ई० में ग्रंथ-रचना के समय कवि ने सुलतान इब्राहीम लोदी का नाम क्यों नहीं लिया, यह चिंत्य है। कवि की रचनाओं में बाबर (१५२६—१५३०) और शेरशाह (१५४०—१५४५) का नाम दिल्लीपति के रूप में आता है। इससे स्पष्ट है कि जायसी का रचना-काल १५२६ और १५४५ के बीच में पड़ता है। बाबर का संबंध 'आखरी' कलाम से है। इसका समय जायसी ने ६३६ (१५२६) दिया है। इस समय बाबर जीवित था, अतः शाहेवक्त के रूप में उसी का नाम दिया गया। ६४७ हिजरी (१५४० ई०) में शेरशाह दिल्ली का सुलतान बना गया था। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की तिथियों में कोई विरोध नहीं पड़ता। निश्चय ही १५४० ई० में पद्मावत की रचना आरंभ हुई, वह कब समाप्त हुई इसके संबंध में कोई निर्देश नहीं है। तीस वर्ष की आयु में जायसी कवि के रूप में प्रसिद्धि पाने लगे थे—'कवि बदी' से यही आशय है। 'नौ' सदी का अर्थ 'नई' सदी लेने पर यह स्पष्ट है कि जायसी का जन्म ६०० हिजरी (१४६३) में हुआ। ३० वर्ष की अवस्था में वे कवि रूप में प्रसिद्ध हुए (१५२३)। पानीपत की लड़ाई के तीन वर्ष बाद जब बाबर 'साह छत्रिपति राजा' था उन्होंने 'आखरी कलाम' (१५२६) की रचना की और इसके ग्यारह वर्ष बाद पद्मावत (१५४०) को लिखना आरंभ किया। इस समय जायसी ४७ वर्ष की प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ की गणना के अनुसार जायसी का जन्म ६०६ हिजरी (१४६६ ई०) में हुआ और पद्मावत (१५२० ई०) उनकी २१ वर्ष की आयु की रचना

ठहरती है। पद्मावत जैसे प्रौढ़-काव्य की रचना २१ वर्ष का युवक करे यह कुछ असंभव सी वात है। फिर 'आखिरी कलाम' (१५२६ ई०) की भाषा-शैली में प्रौढ़ता के चिन्ह भी नहीं मिलते और उसमें इस्लामी भाव भरे पड़े हैं, सूफ़ी चिन्तना का जरा भी पता नहीं है। स्पष्ट है कि 'आखिरी कलाम' (१५२६ ई०) २६-३० वर्ष के युवा की रचना है। इसमें आदि से अंत तक इस्लामी कट्टर भावना है। स्वर्ग और नरक के जो चित्र साधारण मुसलमान युवा के मन में नाचते हैं, वही इसमें मिलेंगे। भ्रम का कारण ग्रंथ का नाम जान पड़ता है। कदाचित् जायसी ने इसका कोई नाम नहीं रखा। फ़ारसी में 'आखिरियत नामा' (रोजे अखीर की कथा) की परंपरा थी। यह उसी का अवधी रूप है। इसी विचार से किसी ने ग्रंथ को 'आखिरी कलाम' कह दिया और आलोचक इस भ्रम में पड़ गये कि यह जायसी की अंतिम रचना है। कट्टर इस्लाम से सूफ़ी मत की ओर बढ़ना प्रगति के चिन्ह हैं। इसके विपरीत जो है, वह अधःपतन है। पद्मावत के रचयिता से हम यह आशा नहीं करते कि वह अंतिम रचना के रूप में कट्टर इस्लामी विचारधारा का पोषण करे। हो सकता है, 'कथा-आरंभ वैन' के रूप में पद्मावत की प्रारंभिक पंक्तियाँ कवि ने मुख्य काव्य-रचना के वाद की हों। तव १५४० ई० में पद्मावत समाप्त समझा जाना चाहिये। इस प्रकार पद्मावत का रचनाकाल १५२३ और १५४० ई० के वीच का समय रहेगा।

जायसी ने अपने ग्रंथों में अपनी गुरु-परंपरा भी दी है। भारतीय सूफ़ियों की गुरु-शिष्य-परंपरा से मेल विठाने पर वृत्त कुछ इस प्रकार होगा—

ख़्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती (११४२ ई०)
|
क़ुतुबुद्दीन काकी
|
शेख फ़रीदउद्दीन शकरगंज (११७३—१२६५)
|
हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया (१२३५)
|
सिराजुद्दीन
|
शेख अलउलहक़

- शेख नूर क़ुत्ब आलम
  |
  शेख हशमउद्दीन
  |
  सैयद राजे हामिदशाह
  *हज़रत ख़्वाजे
  |
  शेख दानियाल
  |
  सैयद मुहम्मद
  |
  अलहदाद
  |
  शेख बुरहान मोहदी (कालपी-निवासी)
- सैयद अशरफ़ जहाँगीर
  |
  हाजी शेख
  - शेख मुहम्मद
  - शेख कमाल

*जायसी ने सैयद राजे और शेख दानियाल के बीच की शृङ्खला के रूप में हज़रत ख़्वाजे का नाम भी दिया है। परन्तु ऐतिहासिक ग्रन्थों और अन्वेषकों के अनुसार जायसी की जो गुरु-शिष्य-परम्परा मिलती है, उसमें हज़रत ख़्वाजे का नाम नहीं है।

जान पड़ता है, कालपी की पीर-गद्दी की स्थापना सैयद अशरफ़ जहाँगीर ने की थी। परंतु कालांतर में उनकी परंपरा नहीं चल सकी। जायसी का संबंध सैयद अशरफ़ जहाँगीर के गुरुभाई की परंपरा से था, परंतु वस्तुतः इससे कोई भेद नहीं आता था। इसी से आदिगुरु के रूप में जायसी ने अत्यंत श्रद्धा से सैयद अशरफ़ का नाम लिया है। वे स्वयं शेख बुरहान मुहम्मदी से दीक्षित थे। कदाचित् १५२९ ई० से पहले ही वे दीक्षा प्राप्त कर चुके थे। इस वृत्त से जायसी का संबंध प्रसिद्ध चिश्ती वंश से हो जाता है।

जायसी का कथन इस प्रकार है—

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि दीन्ह पंथ अजियारा
ओहि घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सबै गुन भरा
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे। पंथ देइ कहँ दई सँवारे
सेख मुहम्मद पून्यो न्यरा। सेख कमाल जगत निरमरा
(जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६)

गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा।
अगुवा भये सेख बुराहानू। पंथ लाइ मोहि दीन्ह गियानू।
अलहदाद भल तेहि कर गुरू। दीन दुनी रोसन सुरखुरू।
सैयद मुहमद के वे चेला। सिद्ध-पुरुष संगम जेहि खेला।
दानियाल गुरु पंथ दिखाये। हजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाए।
भये प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिए मेरइ जहँ सैयद राजे।
(वही, पृ० ६)

मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा ॥
(वही, पृ० ३८६)

पा—पाएउँ गुरु मोहिदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा।
नांव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू।
औ' तिन्ह दरस गोसाईं पावा। अहलदाद गुरु पंथ लखावा।

जायसी ने अपने चार मित्रों का उल्लेख किया है--मलिक यूसुफ़, सलार क़ादिम, सलोने मियां और बड़े शेख़। कदाचित् जायस में आने पर ही उन्हें यह मित्र मिले थे। इनमें बड़े शेख़ सिद्ध पुरुष थे और यूसुफ़ मलिक भी बड़े पंडित ज्ञानी थे। सेलार क़ादिम और सलार मियाँ युद्ध-वीर थे। उन्होंने बहुत से युद्धों में भाग लिया था। इससे अधिक जायसी इन मित्रों के विषय में परिचय नहीं देते।[२५]

यह तो हुई अंतर्साक्ष्य की बात। बाह्यसाक्ष्य और जनश्रुति से जायसी के संबंध में जो मालूम होता है, उसके संबंध में हम पूर्णतः निश्चित नहीं हो सकते। उनके जन्म-स्थान को कोई जनश्रुति जायस[२६] बताती है, कोई ग़ाज़ीपुर[२७]। मानिकपुर ज़िला प्रतापगढ़ में उनकी ननिहाल बताई जाती है[२८]। पिता और भाइयों के संबंध में भी कुछ कहा जाता

अलहदाद गुरु सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद के वे चेला।
सैयद मुहमद दीनहि साँचा। दानियाल सिख दीन्ह सुबाचा।
(वही पृ० ३६४)

२५: चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुँचाए ॥
यूसुफ मलिक पंडित बहु ज्ञानी। पहलै भेद बात वै जानी ॥
पुनि सेलार कादिम मतिमाहाँ। खाँडै दान उवै निति बाहाँ ॥
मिया सलोने सिंघ बरियारू। बीर खेतरन खडग जुझारू ॥
शेख बड़े बड़ सिद्ध बखाना। किए आदेश सिद्ध बड़ा माना ॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े। औ संजोग गोसाईं गढे ॥
(वही, पृ० १०)

२६ साधारण जनश्रुति

२७ ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० २६१

२८ वही, भाग २१, पृ० ४३

है। कहा जाता है कि इनके माता-पिता की मृत्यु बचपन में हो गई थी और ये फ़क़ीरों और साधुओं के साथ रहने लगे थे[१९]। किसी-किसी जनश्रुति में इनके वैवाहिक जीवन और पुत्रों का भी उल्लेख है[२०]। अमेठी के राजा को इन पर बड़ी श्रद्धा थी और वे अमेठीराज्य में आदर-सत्कार के साथ बहुत दिन रहे और अन्त को वहीं पर मृत्यु को प्राप्त हुई[२१]। जायस में उनका मकान और अमेठी में उनकी क़ब्र आज भी दिखलाये जाते हैं। पता नहीं, यह सब कहाँ तक सच है।

जो हो, इसमें अनिश्चय नहीं कि मलिक मुहम्मद का संबंध जायस से था। वे वहाँ कहीं से आए और अपने प्रेम-विरह के छंदों के मधुर पाठ के कारण एकदम प्रसिद्धि को प्राप्त हो गये। जायस में उनका वंश आज भी उपस्थित है। इससे संभव है, उनका पितागृह जायस ही रहा हो, परंतु उनका जन्म और पोषण अन्यत्र हुआ हो। संभव है, प्रारंभिक जीवन में वे कालपी से संबंधित रहे हों और वहीं उन्होंने शेख बुरहान से दीक्षा ली हो। संभव है, 'आखिरी कलाम' और पद्मावत की रचना का आरंभ भी वहाँ हुआ हो। दोनों पुस्तकों में गुरु-वंश का जो श्रद्धात्मक वर्णन है, उससे इस ओर इंगित मिलता है। युवावस्था में वे जायसी आकर जायस के ही हो गये। बाद में 'जायसी' के रूप में।भी ही उनकी प्रसिद्धि हुई। जनश्रुति शेरशाह[२२] और अकबर से भी उनका संबंध जोड़ती है। इससे आगे हम नहीं जा सकते।

जायसी का व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं था। वे कुरूप थे। चेचक-रू थे। काले थे। कदाचित् लोग उन्हें देखकर हँसा करते

---

१९ वही, पृ० ४३, २० वही पृ० ५०

२१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २१, पृ० ५८, जायसी ग्रंथावली पृ० ९-१५, २२ ना० प्र० प० भाग २१, पृ० ८७

थे। परंतु उस भौंडे व्यक्तित्व के पीछे उनका 'प्रेम की पीर' से भरा हृदय था। भाव-विभोर होकर सुन्दर कंठ से जब वे स्वरचित पद गाते तो जो सुनता मुग्ध हो जाता। इस विशेषता के कारण इनके पदों (दोहों) की प्रसिद्धि इनके जीवन में ही हो गई थी। कदाचित इनके सौन्दर्य से ही प्रभावित होकर अवध-प्रदेश में जायसी की लोकप्रियता जानकर ही तुलसी ने 'पद्मावत' की शैली में रामचरितमानस की रचना की।

इसके बाद कुछ जायसी की रचनाओं के संबंध में।

जायसी की रचनाओं के नाम के लिए हमारे आधार हैं तासी, रामचंद्र शुक्ल, चंद्रबली पांडेय की खोजें और सैयद कल्वे मुस्तफ़ा का ग्रंथ। इनसे हमें २१ रचनाओं का पता चलता है२३। इनमें से बहुत सी रचनाएँ केवल जनश्रुति में ही सुरक्षित हैं। नाम-मात्र के अतिरिक्त इनके संबंध में हम विशेष कुछ नहीं जानते। जो ग्रंथ उपलब्ध कहे जाते हैं, उनके संबंध में भी अभी खोज नहीं हुई है, अतः निश्चय रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

२३—[१]पद्मावती, [२]अखरावट, [३]आख़िरी क़लाम, [४]सखरावत, [५]चंपावत, [६]इतरावत, [७]मटकावत, [८]चित्रावत, [९]खुर्वानामा, [१०]मोराईनामा, [११]मुकहरानामा, [१२]मुखरानामा, [१३]पोस्तीनामा, [१४]मुहरानामा, [१५]कहारनामा, [१६]मेखरावट (होली नामा) [चंद्रबली पांडेय], [१७]स्फुट छन्द, [१८]घनावत, [१९]सोरठ, [२०]परमार्थ जपजी [सैयद कल्वे मुस्तफ़ा], [२१]नैनावत [जा० ग्रं० भूमिका, पृ० १६]। पहली तीन पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें केवल जनश्रुति द्वारा ही चली आती है। सोरठ और जपजी हस्तलिखित प्रतियाँ बेंगाल एशियाटिक सोसाइटी में बताई जाती है और घनावट की डा० स्प्रेंगर के पास। पोस्तीनामा की कुछ पंक्तियाँ भी उपलब्ध हैं, परंतु वह तुकबंदी मात्र है। मैनावत को पं० रामचंद्र शुक्ल प्रेमकहानी कहते हैं। इससे अधिक इन

इस प्रकार जायसी के तीन ही ग्रंथ निश्चय रूप से उनके कहे जा सकते हैं। जायसी ग्रंथावली में इन्हीं का संग्रह है। ये हैं पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। आखिरी कलाम १५२६ की रचना है, पद्मावत १५२० से १५४० तक की। अखरावट की रचना-तिथि नहीं मिलती। परंतु वह पद्मावत के पहले की रचना होगी। कदाचित् कबीर के अक्षरानुसार लिखे ग्रंथों (ककहरा आदि) से प्रभावित होकर ही इसकी रचना हुई हो। यह आरंभिक रचना ही ठहरेगी। जायसी का सब से महत्वपूर्ण ग्रंथ पद्मावत (१५४०) है। जैसा हमने पहले लिखा है, 'पद्मावत' प्रेमाख्यानों की एक परंपरा से आबद्ध है। मध्ययुग में प्रेम-कथाओं के प्रति विशेष आकर्षण था और अनेक प्रेम-कथाएँ वीर-गाथाओं के साथ मिलकर लोकगीतों का रूप प्राप्त कर चुकी थीं। 'बीसलदेव रासो' (११५५ ई०) हमारा पहला प्रेमाख्यान है। इसके बाद आल्हा-उदल और पृथ्वीराज रासो की प्रेम-कथाएँ आती हैं। हिन्दू लेखकों द्वारा लिखी दो पुरानी प्रेमकथाएँ कुतुबशतक (कुतुबुद्दीन और साहिब की प्रेम-कथा) और जलाल गहाणी

पुस्तकों के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं। जब तक हस्तलिखित प्रतियों का अध्ययन नहीं हो जाता और जायसी के अन्य अप्राप्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते, तब तक जायसी की कीर्ति का आधार केवल पहले तीन ग्रन्थ ही रहेंगे और इन्हीं के आधार पर उनकी साहित्यिक प्रतिभा का निर्णय हो सकेगा। संभव है, ऊपर जायसी की पुस्तकों की जो सूची दी गई है, उनमें एक ही पुस्तक कई बार बदले हुए नामों से आ गई हो। फ़ारसी लिपि के अनुसार मुकुहरानामा, मुखरानामा, मुहरानाम, मखरावटनामा लगभग एक ही प्रकार से लिखे जायँगे। जो हो, जायसी की रचनाओं के संबंध में परिस्थिति अनिश्चित है।

री वात (जलाल और गहाणी को प्रेम-कथा) है। इनके लेखक और निर्माण-काल के संबंध में हमें विशेष कुछ ज्ञात नहीं, परंतु कदाचित् यह प्रसिद्ध लोक-कथाओं के साहित्यिक रूप थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक प्रेम-कथाओं की परंपरा चली आती है। यह परंपरा इस प्रकार है : सत्यवती कथा (ईश्वरदास आ० का० १५०० ई०)२४ लक्ष्मणसेन-पद्मावती (दोमा, १४५६), मृगावती२५ (कुतबन १५०० ई० के लगभग), मधु-मालती२६ (मंझन, १५०० ई० और १५५० ई० के बीच), ढोला मारवणी चउपई (हरराज, १५५०), माधवानल कामकंदला (आलम, १५८२), रसरतन (पुहकर, १६१८), पद्मावत (जायसी, १५४०), चित्रावली (उसमान, १६१३), ज्ञानदीप (शेख नबी, १६१९ ई०), कनक-मंजरी (काशीराम, १६६३), हंस-जवाहिर (कासिमशाह, १७३१), इंद्रावती (नूरमुहम्मद, १७४४), अनुराग बाँसुरी (नूरमुहम्मद, १७६४), चंद्रकला (प्रेमचंद, १७६६), कामरूप की कथा (हरसेवक मिश्र, १८४४), प्रेमपयोनिधि (मृगेन्द्र, १८६५), पद्मिनी चरित्र (लालचंद, १६४३ ई०), नल-दमयन्ती कथा२७ (सूरदास, १७वीं शताब्दी), चतुर्मुकुट की कथा (१८वीं शताब्दी) और यूसुफ-जुलेखा (१८वीं शताब्दी)। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम-कथाओं की परंपरा हिंदी के आदि काल से उन्नीसवीं शताब्दी तक बराबर चली आ रही है। यह सारी

---

२४ सिकंदर शाह (१४८९ ई०—१५१७ ई०) के समय-वर्तमान। २५-२६ सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य।

२७ सूफ़ी कथा है। लेखक का नाम सूरदास है परंतु यह प्रसिद्ध सूरदास नहीं, कोई कायस्थ हैं। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के एक अंक में डॉ० मोतीलाल, क्यूरेटर बंबई म्यूज़िअम ने इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रतिलिपि का विवरण दिया है।

कथा मुख्यतः अवधी भाषा या राजस्थानी में है। अवधी भाषा की कथा में दोहा-चौपाइयों का ही प्रयोग मिलता है। ये तो हुई काल्पनिक रोमांच कथाएँ। पौराणिक प्रेम-कथाओं की संख्या भी बहुत अच्छी थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग में अनेक प्रेम-कथाएँ जनता में प्रचलित थीं और कवि उन्हें काव्य का विषय बना रहे थे। सूफ़ी कवियों ने इन्हीं जन-प्रसिद्ध कवियों को अपने काव्य का आधार बनाया। साधारण लौकिक प्रेम-कथा में उन्होंने अनुभूति की इतनी तीव्रता भर दी कि उससे अलौकिक प्रेम की व्यंजना होने लगी।

स्वयं अलाउद्दीन और पद्मावती को लेकर अनेक रचनाएँ हुईं। परंतु कहीं भी कोई लेखक इतिहास का अतिक्रम नहीं कर सकता था। अतः अलाउद्दीन को लेकर आदर्श प्रेमी नायक का निर्माण नहीं हो सकता था। रत्नसिंह (लक्ष्मणसिंह) और पद्मावती (पद्मिनी) को लेकर ही प्रेमकथा चली। अलाउद्दीन तो खल-नायक है। वास्तव में साधारण प्रेमकथा रतनसिंह की पद्मावती की प्राप्ति पर समाप्त हो जाना चाहिये। 'पद्मिनी चरित्र' में रत्नसेन (रतनसी) भाटों द्वारा पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर उस पर मोहित हो जाता है। कुछ समय बाद पटरानी प्रभावती से रूठ कर वह घर से निकल जाता है। रानी ने राजा के सामने जो भोजन रखा था, वह उसे पसंद नहीं आया। इस पर रानी ने चिढ़कर कहा कि यदि मेरा भोजन अच्छा नहीं लगता तो, कोई 'पद्मिनी' ले आओ। इस पर रत्नसेन उठ खड़ा हुआ। समुद्रतट पर पहुँचने पर औघड़नाथ सिद्ध ने उसे अपने योगबल से सिंहलद्वीप पहुँचा दिया। वहाँ राजा को वहिन पद्मिनी के स्वयंवर की मुनादी हो रही थी। राजा ने अपना पराक्रम दिखाकर पद्मिनी को प्राप्त किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलाउद्दीन-पद्मावती की कथा जायसी के बचपन में लोकप्रिय हो गई थी। लोकगीतकारों और साहित्यकारों ने इसके अनेक रूप जनता में प्रचलित कर दिये थे। १३०३ ई० की चित्तौड़ की चढ़ाई और १३०४ ई० और रणथंभोर की विजय इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि कन्याकुमारी से हिमालय तक हमें इनकी गूँज सुनाई पड़ती है। हिन्दू जनता के लिए चित्तौड़ और रणथंभौर स्वतंत्रता के प्रतीक थे। इसी से हम्मीर और रतनसेन (लक्ष्मणसेन) कथाओं के नायक बने और इन नायकों को विशेष गुणसंपन्न बताया गया। गोरा-बादल, पद्मिनी और रतनसेन वीरत्व और सतीत्व के प्रतीक बनकर सामने आये। 'आल्हा' का भी प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। पद्मावती का जौहर सारे हिन्दुओं का भाल-तिलक बन गया और दासत्व की गठरी ढोते हुए भी वह इस टीके का भार ग्रहण नहीं कर सके। अलाउद्दीन खल-नायक से बढ़ कर माना गया है। खल-नायक तो वह था ही, जायसी ने 'माया' भी कहा है। यह माया या वासना साधक और मुआरिफ़ (प्रज्ञा) के बीच में भेद डाल देती है और मनुष्य धार्मिक वृत्ति से नीचे उतर कर फिर सांसारिकता में लीन होने लगता है। राघवचेतन नाम के एक नए चरित्र की अवतारणा जायसी ने की है। कहा नहीं जा सकता कि यह नया पात्र कहाँ तक ऐतिहासिक है। जायसी ने इसे आध्यात्मिक अर्थों में "शैतान" कहा है। शैतान मनुष्य को सत्पथ की ओर से विरक्त कर देता है और उसे कुपथ की ओर बरगलाता है। अलाउद्दीन को कुपथ की ओर ले जाने की चेष्टा राघवचेतन ने ही की है। गुरु (हीरामन) जहाँ रतनसेन को लक्ष्य की ओर ले जाता है, वहाँ शैतान अलाउद्दीन को दुःख और निराशा के चक्कर में डाल देता है। पूर्वार्द्ध में जहाँ सफल साधक का चित्र है, वहाँ उत्तरार्द्ध

में असफल साधक का। जो हो, यह निश्चित है कि जायसी का पद्मावत (१५४० ई०) हिंदी साहित्य की अमूल्य संपत्ति है। उसमें एक विशेष काव्य-धारा की सर्वोत्तम निधि सुरक्षित है, परन्तु साथ ही एक प्रमुख धार्मिक साधना का भी प्रकाशन उसके द्वारा हुआ है। जायसी सूरदास के समकालीन हैं। सूरदास की भाँति उन्होंने भी प्रेम का प्रतीक लेकर एक अभिनव अध्यात्म-साधना का रूप खड़ा किया है। अखरावट और आखिरी कलाम (१५२९ ई०) में जायसी पर सूफ़ी साधनाओं की अपेक्षा इस्लामी भावनाओं का ही प्रभाव अधिक है। अखरावट निःसंदेह कबीर और संतों द्वारा प्रतिष्ठित एक विशेष काव्य-शैली है जिसमें धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण कवि का लक्ष्य होता है। वास्तव में 'आखिरी कलाम' कवि की पहली और अप्रौढ़ रचना है। यह २९-३० वर्ष के नवयुवक की रचना है जिसकी आँखों में इस्लाम के स्वप्न झूल रहे हैं। कवि-रूप से वह प्रसिद्ध भी हो गया है। कदाचित् उसने नागमती के विरह (षट्-ऋतुवर्णन) की भी रचना कर ली है और उसे मधुर स्वर में गा-गाकर लोगों को मुग्ध भी कर लिया है। बाद में इस मौलिक रचना को कवि ने 'पद्मावत' का एक अंग बना लिया। यह तरुण युवक 'दस दिन' का पाहुना बन कर, जायस पहुँचा, और न जाने किस कारण से वहाँ बैरागी बन बैठा। संभव है, कुछ समय बाद वह कालपी चला गया और वहाँ सैयद अशरफ़ जहाँगीर की सूफ़ी गद्दी से उसने दीक्षा ले ली। कालपी के शेख बुरहान मोहदी (मुहम्मदी) से कवि दीक्षित था। इन्हीं के यहाँ रहकर उसने पद्मावत (१५२९-४०) की रचना की जान पड़ती है। फिर भी जायस लौट आया और वहाँ उसने इस रचना को प्रसिद्धि दी। उस समय शेरशाह का शासन-काल था।

७

पद्मावत

[१] कहानी

'पद्मावत' की कहानी का मूलाधार ऐतिहासिक है, परंतु जायसी ने इतिहास को दृष्टि में रखकर कथावृत्त का विस्तार नहीं किया। उन्होंने मसनवियों के अनुरूप इस विशेष कथा को साधना का आधार-मात्र बनाया है। लोककथा को लेकर उसके लौकिक प्रेम पक्ष पर अलौकिक भवनाओं का आरोप करने की प्रवृत्ति प्रारंभ से ही सूफ़ी मसनवियों में पाई जाती है और जायसी मूल रूप से इसी परंपरा से प्रभावित थे। पद्मावत की ऐतिहासिक घटना उसके उत्तरार्द्ध में वर्णित है। अलाउद्दीन किस प्रकार पद्मावती पर मुग्ध हुआ, कैसे उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और अंत में क्षार उसके हाथ लगी। इस सब कथा का संबंध १३०३ ई० के चित्तौड़ के आक्रमण से है। कुछ ही दिनों बाद पद्मिनी की कथा सारे देश में प्रसिद्ध हो गई। लोक-कथा के रूप में व्यापक रूप से उसका प्रचार हुआ और साहित्य में भी उसे आधार बनाया गया। संस्कृत और हिंदी दोनों में पद्मावति पर काव्य लिखे गये हैं, यह कथा की लोकप्रियता का प्रमाण है।

जायसी के पद्मावत की कहानी खंडों में बँटी हुई है। कई खंड कहानी की दृष्टि से किसी तरह महत्वपूर्ण नहीं है। ये हैं स्तुति खंड (१), सिंहलद्वीप-वर्णन खंड (२), नखशिख खंड (१०), षट्‌ऋतु-वर्णन खंड (२९), स्त्री-भेद-वर्णन खंड (४७),

बादशाह भोज खंड (४५)। इस प्रकार ६ खंडों का अध्ययन हम कथावस्तु से अलग भी कर सकते हैं। शेष ५१ खंडों में कथा का विस्तार मिलता है।

कथा इस प्रकार है—

आरंभ में कवि सिंहलद्वीप का वर्णन करता है। गंधर्वसेन सिंहलद्वीप का राजा था। चम्पावती रानी। दोनों के एक संतान हुई। पद्मावती नाम रखा गया। यह अत्यंत सुन्दर थी। पढ़ने में दक्ष इतनी थी कि पाँच वर्ष की आयु में ही बहुत कुछ पढ़ गई। जब वह ग्यारह वर्ष की हुई तो सात खंड के एक महल में अलग रहने लगी। कुछ सखियाँ साथ रहीं। हीरामन नाम का एक तोता था। वह देश-विदेश घूमा था और बड़ा पंडित था। पद्मावती उसे बड़ा प्यार करती थी।

बहुत वयस्क हो जाने पर भी जब वैभव के गर्वीले राजा ने पद्मावती का ब्याह नहीं किया, तो वह चिंतित रहने लगी। एक दिन हीरामन तोते से उसने अपने मन की व्यथा कही। उसने कहा—अब मैं तुम्हारे लिए वर खोज दूँगा। मुझे मुक्त कर दो। जब तक मैं नहीं लौटूँ तब तक धैर्य धरो। कोई दुर्जन इन बातों को सुन रहा था। उसने राजा को सूचना दी, राजा ने तोते को मारने की आज्ञा दी, परंतु वधिकों के आने से पहले ही पद्मावती ने उसे छिपा दिया था। जब राजा के वधिक चले गये, तो हीरामन बाहर आया। उसने जाने का आग्रह किया। जब देश का स्वामी ही नाराज है, तो प्राण किस प्रकार बचेंगे। विवश होने पर भी पद्मावती ने आज्ञा नहीं दी (जन्म खंड)। किसी पूर्णिमा में पद्मावती सखियों के साथ मानसरोवर में स्नान करने गई। वहाँ सखियों ने खूब जलक्रीड़ा की। फिर सब भूला भूलीं। जलक्रीड़ा के समय एक सखी रत्नहार खो बैठी और विलाप करने लगी। परंतु कुछ देर बाद हार पानी में उतराने

लगा और सब सखियाँ प्रसन्न-प्रसन्न घर लौटीं (मानसरोवर खंड)। जब पद्मावती सहेलियों के साथ जलक्रीड़ा में मग्न थी, हीरामन पिंजड़ा तोड़ कर उड़ गया। वह जंगल में स्वतंत्र पक्षियों के साथ रहने लगा। एक दिन एक बहेलिया ने उसे पकड़ लिया और झाबे में रख कर ले चला (सुआ खंड)।

यह हुई सिंहल की कथा।

अब चित्तौड़ की ओर।

चित्तौड़ में चित्रसेन राजा राज करता था। उसके रत्नसेन नाम का एक पुत्र था। ज्योतिषियों ने बताया था कि वह पद्मिनी से विवाह करेगा, सिंहलद्वीप जायेगा (रत्नसेन जन्म-खंड) राजा चित्रसेन की मृत्यु पर रत्नसेन चित्तौड़ के राजसिंहासन पर बैठा। एक दिन चित्तौड़ का एक बनिया व्यापार के लिए सिंहल पहुँचा। वहाँ उसने अनेक विचित्र वस्तुएँ खरीदीं। उनमें व्याध के हाथों खरीदा हीरामन तोता भी था। इन्हें वह चित्तौड़ लाया। इन विचित्र चीज़ों को लेकर वह रत्नसेन के पास उपस्थित हुआ। रत्नसेन ने हीरामन मोल ले लिया और वह रनवास पहुँच गया (बनिजारा खंड)। रत्नसेन की रानी नागमती ने एक दिन अपने रूप का गर्व करते हुए हीरामन से पूछा—संसार में मुझसे सुंदर स्त्री कौन है? तोते ने उसे सिंहलद्वीप की राजकन्या पद्मावति की बात बताई। इसे सुनकर नागमती को यह आशंका हुई कि कहीं तोता रत्नसेन को भी यह बात न बता दे और उसे प्रिय-वियोग का दुःख उठाना पड़े। उसने तोते को एक धाय के सुपुर्द किया कि मार डाले। परंतु धाय जानती थी कि इस तोते से राजा को प्रेम है। उसने तोते को छिपा दिया। रात को जब राजा आया और उसने तोते के संबंध में पूछा तो नागमती ने बताया कि उसने इस अपराध पर उसे

मृत्युदंड दिया। राजा विलाप करने लगा। उसके क्रोध को देखकर धाय ने सच्ची बात बता दी और तोता रानी को लाकर दे दिया। रानी ने उसे राजा को दे दिया (नागमती-सुआ-संवाद)।

तोते ने राजा को सिंहलदेश की राजकुमारी पद्मावति के अपूर्व सौन्दर्य की बात सुनाई। राजा ने ज्यों ही 'पद्मावति' का नाम सुना, उसके मन में पूर्वराग का संचार हो गया। उसने सुआ से पद्मावति का नखशिख पूछा (राजा-सुआ संवाद खंड)। अगले खंड में पद्मावति के नखशिख का वर्णन है। इस नख-शिख को सुन कर राजा को मूर्च्छा आ गई और वह चेतना-हीन हो गया। जब वह जागा तो उसकी 'त्राहि-त्राहि' से सारे कुटुम्बी-परिजन दुखित हो उठे। किसी की समझ में नहीं आता था कि क्या किया जाये। राजा रो रहा था और हीरा-मन भाँति-भाँति से उसे समझ रहा था। हीरामन ने कहा—राजा, सिंहल का मार्ग कठिन है। वहाँ भोगी नहीं जा सकता। तुम तो भोगी हो। जोगी-संन्यासी ही मार्ग पा सकते हैं। यह सुनते ही राजा में नए उत्साह का संचार हो गया और वह सिंहल-यात्रा पर निश्चित हो गया (प्रेमखंड)। राजा राज्य छोड़ कर जोगी हो गया। जोगियों के चिन्ह मेखला, सिंघी, चक्र इत्यादि उसने धारण कर लिये। ज्योतिषियों की अवहेलना करके भी वह यात्रा को चल पड़ा। सारा चित्तौड़ विरह में उमड़ पड़ा। माँ ने अनेक प्रकार से विनती की, परंतु राजा ने नहीं माना। नागमती के दुःख का कहना ही क्या! वह भी सीता की तरह साथ जाना चाहती थी, परंतु रत्नसेन ने उसे पथ की कठिनाइयाँ बताईं और साथ ले चलना स्वीकार नहीं किया (जोगी खंड)।

राजा के साथ सोलह सौ कुँवर थे। आगे-आगे हीरामन

तोता। लगभग एक महीने चलकर वे लोग समुद्र के किनारे पहुँचे। वहाँ के राजा गजपति ने भेंट की और राजा को समझाना चाहा, परंतु राजा माना नहीं। इस पर राजा गजपति ने बोहितों (जहाज़ों) का इन्तज़ाम कर दिया (राजा गजपति संवाद खंड)। जब वे जहाज़ चले तो सारा समुद्र पट गया और वे अत्यंत तीव्रता से सिंहल की ओर बढ़ने लगे (बोहित खंड)। मार्ग में इन लोगों को सात समुद्र पार करना पड़े। अंत में वे मानसर के किनारे सिंहल द्वीप में लगे (सात समुद्र खंड)। सिंहलद्वीप पहुँच कर राजा को तोते ने सिंहलगढ़ दिखाया। 'यहाँ पद्मावति रहती है, परंतु उसके पास जाना संभव नहीं है।' उसने इंगित द्वारा दूर पर स्थित सुमेरु पर्वत को दिखाते हुए कहा—'इस पर्वत पर महादेव का मंडप है। माघ मास की श्री पंचमी को वहाँ पर महादेव की पूजा करने के लिए पद्मावती आयेगी। वहीं तुम उसके दर्शन पा सकोगे।' राजा ने इसे स्वीकार किया और हीरामन पद्मावती के पास चला गया (सिंहलद्वीप खण्ड)। उधर राजा वियोग में पागल तीस हज़ार चेलों के साथ महादेव के मंडप में रहने लगा और पद्मावति के लिए विरह की साधना उसका जीवन-तप बन गई (मंडप गमन खंड)।

राजा के योग का प्रभाव अलक्षित रूप से पद्मावति पर भी हुआ और वह अपनी धाय से अपनी वियोग-कथा की बात कहने लगी। रात उससे काटे नहीं कटती (पद्मावति-वियोग खण्ड)। हीरामन पहुँचा। पद्मावती जैसे जी गई। उसने उसे गले से लगा लिया। हीरामन ने सारी कथा सुनाई। इस कथा को सुनकर रानी के मन में अभिमान का संचार हुआ। परंतु जब हीरामन ने राजा की कृशता की बात कही, तब रानी के मन में दया उत्पन्न हुई। उसने हीरामन से कहा—'यह जोगी

मर गया तो हत्या मुझे लगेगी। अब मैं वंसत पूजा के वहाने उसे दर्शन दूँगा।' यह सुन कर हीरामन प्रसन्न-प्रसन्न राजा (जोगी) रत्नसेन के पास चला गया) पद्मावती-सुआ-खण्ड)।

वसंत की श्री पंचमी को पद्मावती महादेव के मंदिर में आई। पूजा करने के वाद उसने इष्टदेव से मन-चाहे वर की इच्छा प्रगट की। इस समय एक सखो हँस कर वोली—रानी, पूर्व द्वार पर कुछ जोगी आये हैं। उनमें से एक तो राजकुमार जैसा लगता है। पद्मावती उसे देखने गई। उसे देखते ही राजा वेहोश हो गया। पद्मावती ने उसके शरीर पर चंदन लगाया। क्षण भर राजा जागा, परंतु फिर ठंडक पाकर गहरी नींद सो गया। तब पद्मावती ने चंदन से उसके हृदय पर यह अंकित कर दिया—जोगी, तूने भीख लेना नहीं सीखा है। जब घड़ी आई, तब तू सो गया। तू अभागा है।' पद्मावती लौट कर सोई तो स्वप्न में उसने हनुमान द्वारा लंका लूटने वाला दृश्य देखा। सांकेतिक रूप से उसने प्रियमिलन की वात पूर्व ही जान ली। सखियों ने भी इस स्वप्न का यही अर्थ लगाया कि उसे मनोवांछित वर प्राप्त होने वाला है (वसंत खंड)।

पद्मावती चली गई तो रतनसेन जागा। वह घोर विलाप करने लगा। अंत में उसने चिता पर जल रहने का निश्चय किया (रत्नसेन-सती खंड)। रतनसेन चिता सजा रहा था कि महादेव और पार्वती आ पहुँचे। राजा ने कारण पूछने पर उन्हें सारी कथा वताई। इस पर पार्वती अप्सरा के समान रूप धारण कर वोली—मुझे इंद्र ने भेजा है। मैं अप्सरा हूँ। पद्मावति मुझ जैसी सुन्दरी तो नहीं होगी। तुम मुझे ग्रहण करो। रत्नसेन ने कहा—मेरी आँखों के आगे तो पद्मावती है। मैं तो उसी से प्रेम करता हूँ। वह भयंकर रूप से रोने लगा।

अंत में महादेवजी ने अपना वास्तविक रूप प्रगट किया और उसे गढ़ जीतन का उपदेश दिया और मार्ग भी बताया (पार्वती महेश खंड)। यह सिद्धि-गुटका था। इसे पाकर राजा इकेला ही महल में घुस पड़ा। उसने नौकरों से यह कहला दिया कि मैं पद्मावती का भिखारी हूँ। उस लिये बिना नहीं जाऊँगा। यह संदेश भेज कर राजा के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा उसने हीरामन के हाथ एक पत्र पद्मावती के पास भेजा। पद्मावती का उत्तर आया। राजा प्रसन्नता से भर गया (राजा गढ़-छेका खंड)।

मंत्रियों से सलाह लेकर राजा गंधर्वसेन ने रतनसेन को बंदी बना लिया। इस समाचार को पाकर पद्मिनी बहुत दुखी हुई। हीरामन ने जब उसे आवाज़ दी तब वह होश में आई (गंधर्वसेन-मंत्री खंड)। बंदी रत्नसेन को सूली की सजा मिली। बात यह हुई कि उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और उसकी विरह-वेदना से आकंपित हो महादेव-पार्वती को भी वहाँ आना पड़ा। महादेवजी ने राजा को रतनसेन का यथार्थ परिचय दिया। हीरामन ने भी साक्षी दी। विवाह का निश्चय हुआ और रत्नसेन का तिलक हो गया। ठीक लग्न पर बरात सज कर चली। बरात आती देख भावावेश में पद्मावति मूर्च्छित हो गई। सखियों द्वारा होश में आई हुई पद्मावति महल के सातवें खण्ड पर पहुँचाई गई। वहाँ सुहागरात का आयोजन था (रत्नसेन-सूली खण्ड)। इस सातवें खण्ड पर पद्मावति और रतनसेन की पहली भेंट हुई। पहले तो पद्मावति को बड़ा संकोच हुआ, परंतु फिर संकोच दूर हो गया और दोनों सुखपूर्वक क्रीड़ा करने लगे (पद्मावति-रत्नसेन खण्ड)। दूसरे दिन सोलह हज़ार साथियों का विवाह सिंहल की सुन्दर 'पद्मिनी' स्त्रियों से हो गया।

(रतनसेन साथी खण्ड)। छहों ऋतुएँ दम्पति ने बड़े सुख से बिताईं (षट्ऋतु-वर्णन खण्ड)।

यह हुई सिंहल की कथा।

अब कवि चित्तौड़ में वियोगिनी नागमती के पास आता है। नागमती के वियोग और उसके संदेश को कवि ने दो खंडों में कहा है। यह दो 'पद्मावत' के तीस-इकतीस खंड साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। नागमती का संदेश लेकर पक्षी सिंहल पहुँचा। सिंहल में पहुँचते ही आग लग गई। रतनसेन वन में आखेट के लिये आया था। वह एक पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। उसने सुना ऊपर बैठे पक्षी किसी नवागंतुक से बातें कर रहे हैं। इस पक्षी ने अपना परिचय दिया और नागमती के वियोग की कथा सब को सुनाई। राजा नीचे बैठा हुआ सब सुन रहा था। उसने पंछी से सारी बात फिर पूछी। पंछी कहानी सुना कर उड़ कर चला गया, रत्नसेन चिल्लाता रहा, परंतु वह लौटा नहीं। रत्नसेन लौट कर उदास रहने लगा। चित्तौड़ की याद उसे सताने लगी। महाराज रत्नसेन को इस उदासी की बात सिंहलपति गंधर्वसेन को भी मिली (नागमती संदेश खंड)। रत्नसेन ने विदा चाही। अंत में शुभमुहूर्त में वह बहुत धनधान्य के साथ पद्मावती को लेकर चला (रतनसेन विदाई खण्ड)।

परंतु इस यात्रा में भी अनेक बाधाएँ आईं। जहाज अपना मार्ग भूल गया। वहाँ एक मछुवे के भेस में कोई राक्षस नाव पर शिकार कर रहा था। राजा ने उससे राह पूछी। परंतु वह उसे अतल जल में ले गया और वहाँ जहाज डूब गया (देश यात्रा-खंड)। राजा और पद्मावती अलग-अलग हो गये। बहते-बहते पद्मावती समुद्र तट पर लगी। वहाँ समुद्र की पुत्री लक्ष्मी खेल रही थी। लक्ष्मी ने उसे अपने पितागृह ही रखा। परंतु जब

रत्नसेन वहाँ आ लगा तो लक्ष्मी ने अपने को पद्मावति बता कर उसे छलना चाहा। परंतु रतनसेन ने पहचान लिया। तब लक्ष्मी उसे पद्मावति के पास ले गई। प्रेमी-प्रेमी मिले। उन्होंने चित्तौड़गढ़ की ओर प्रस्थान किया (लक्ष्मी-समुद्र खंड)।

चित्तौड़ में घर घर उत्सव हुए। नागमती भी बड़ी प्रसन्न। परंतु बाद में वह पद्मावति के प्रति ईर्ष्या से जलने लगी (चित्तौड़ आगमन खंड)। एक दिन दोनों रानियों में काफ़ी संघर्ष हुआ और रतनसेन को बीच में पड़कर उन्हें संतुष्ट करना पड़ा (नागमती-पद्मिनी विवाद खण्ड)। अंत में नागमती ने नागसेन और पद्मावती के पद्मसेन नाम के पुत्र जनमे (रत्नसेन संतति खंड)।

यहाँ तक पूर्वार्द्ध की कथा चलती है। इसके बाद उत्तरार्द्ध की कथा चलती है जिसका आधार इतिहास है।

चित्तौड़ के कारबार में राघवचेतन नाम का एक बड़ा पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन किसी बात पर वाद-विवाद हो गया और राजा रतनसेन उसे देश निकाले की आज्ञा दी। पद्मावति ने सुना तो उसे अच्छा नहीं लगा। पांडित्य और ज्योतिष के लिये पंडित राघवचेतन की बड़ी प्रतिष्ठा थी और उसके बाहर जाने से उसकी ओर देखा और मुस्करा कर एक कंगन उतार कर उसकी ओर फेंका। राघवचेतन पद्मावती को देखकर मूर्च्छित हो गया और सखियाँ उसे होश में लाईं (राघवचेतन देशनिकाला खंड)। राघवचेतन दिल्ली गया। उसने अलाउद्दीन से पद्मावती के सौन्दर्य की चर्चा की। बादशाह अपनी चेतना खो बैठा। जब स्वस्थ हुआ तो उसने राघवचेतन को एक पत्र देकर चित्तौड़ भेजा। पत्र में पद्मावति को दिल्ली भेजने को कहा था (राघवचेतन दिल्ली गमन खंड, संगी-भेद वर्णन खंड, पद्मावती रूप-चर्चा खंड)। जब रतनसेन

ने यह पत्र पढ़ा तो उसे अपार क्रोध आया। उसने दूत को लौटा दिया। अलाउद्दीन युद्ध की तैयारी करके चित्तौड़ की ओर बढ़ा (बादशाह चढ़ाई खंड)। कई वर्षों तक युद्ध चलता है। तभी दिल्ली पर हमले के समाचार आये और वह संधि करके दिल्ली लौट गया (युद्धखंड)। अलाउद्दीन ने रत्नसेन के पास दूत भेज कर वह पांच रत्न माँगे जो समुद्र ने उसे दिये थे। चंदेरी का राज्य उसने चित्तौड़ को दिया। इस प्रकार उभय पक्षों में संधि हो गई (मेल खंड)। दुर्ग में बादशाह की दावत हुई। उसी दिन शतरंज खेलते वक्त दर्पण में बादशाह ने पद्मावती की प्रतिच्छवि देखी और उसकी वासना फिर जाग उठी। वह चेतनाहीन हो गया (बादशाह-भोजखंड, चित्तौड़गढ़ वर्णन खंड)। जब रतनसेन बादशाह को पहुँचाने दुर्ग के बाहर गया तो उसके आदमियों ने छल से उसे बंदी बना लिया (रतनसेन बँधन खंड)। पद्मावती और नागमती को फिर विरह दुःख भोगना पड़ा (विलाप खंड)। उधर कुम्भलनेर के राजा देवपाल ने पद्मावती को फुसलाने के लिये दूती भेजो। बादशाह अलाउद्दीन ने भी एक वेश्या को दूती बनाकर भेजा (देवपाल दूती खंड, बादशाह दूती खंड)। पद्मावती ने अब इन चालों का सामना करना चाहा। उसने गोरा-बादल नाम के अपने दो सरदारों से अपनी व्यथा कही। उन्होंने रतनसेन को छुड़ा लाने का वचन दिया (पद्मावती-गोरा-बादल संवाद)। बादल का अभी गौना हुआ था। माँ और पत्नी ने रोकना चाहा, परंतु वह रुका नहीं। वह युद्ध के लिए चल दिया (गोरा-बादल युद्ध-यात्रा खंड)। बारह सौ पालकियों में हथियारबंद सैनिक चले। पद्मावती वाली पालकी में लोहार बिठाया गया। यह प्रसिद्ध किया गया कि पद्मावती अलाउद्दीन के पास जा रही है। वे दिल्ली

पहुँचे। अलाउद्दीन की आज्ञा लेकर चित्तौड़गढ़ की चाभी देने के बहाने पद्मावती का डोला रतनसेन के शिविर में पहुँचा। रत्नसेन मुक्त हो गया और बादल उसे लेकर चित्तौड़ की ओर भागा। इस युद्ध में गोरा वीरगति को प्राप्त हुआ (गोरा-बादल युद्ध खंड)। जब चित्तौड़ में आकर रत्नसेन पद्मावती से मिला तो उसने देवपाल की बात कही। देवपाल और रतनसेन में युद्ध (द्वन्द) हुआ और रत्नसेन मारा डाला गया (रत्नसेन-देवपाल युद्ध-खंड)। रत्नसेन की मृत्यु पर गढ़ की रक्षा बादल के हाथ में दे दी गई। पद्मावती और नागमती राजा के साथ सती हो गईं। उसी समय अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, परंतु उसके हाथ केवल क्षार ही पड़ी (राजा रत्नसेन वैकुण्ठ वास खण्ड और पद्मावती—नागमती सती खंड)।

इस प्रकार 'पद्मावत' की कथा समाप्त हुई। 'पद्मावत' (१५४०) की इस कथा-वस्तु के विश्लेषण करने की आवश्यकता है। इससे हमें कई बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि कथा का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बाँटा जा सकता है। उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिक कथा का ही लोक-प्रसिद्ध रूप है। टाड के राजस्थान से कई बातों में यह कथा साम्य रखती है। यह स्पष्ट है कि जिस रूप में अलाउद्दीन-पद्मावती की कथा पद्मावत में सुरक्षित है उस रूप में वह लोकप्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। थोड़े-थोड़े भेदों के साथ वह सारे भारत में फैली थी। नहीं तो उसका यही रूप अवधी कथा-काव्य में नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि इसके कई पात्र स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक हैं। पद्मावति, राजा, अलाउद्दीन और गोरा-बादल। राघवचेतन मौलिक पात्र है और शैतान के रूप में उसकी कल्पना की गई है। शैतान सालिक को मुआरिफ़

के साथ देखना नहीं चाहता। वह उसे हटाने के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है।

पूर्वार्द्ध की कथा उत्तरार्द्ध की कथा से भिन्न है। उसका विस्तार भी बहुत अधिक है। ग्रंथ का बहुत बड़ा भाग पूर्वार्द्ध पर समाप्त हो जाता है। संभव है, जायसी पहले पूर्वार्द्ध की कथा को ही लेकर चले हों और उत्तरार्द्ध उनकी बाद की सूझ हो।

परन्तु पूर्वार्द्ध के अनेक भाग ऐसे हैं जिनका विस्तार कथा की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए 'पार्वती महेश खंड' में महादेव रतनसेन को समझाते हैं— रोओ मत। यह सिंहलगढ़ वैसा ही है जैसा तुम्हारा देह। दसवें द्वार तक यहाँ भी चढ़ना पड़ेगा। उसे (पद्मावती) को वही देख पाता है जो अपनी दृष्टि को उलट कर लगाता है। वही उसे देख पाता है और वही जाकर उसे प्राप्त कर सकता है।' इस प्रकार के वक्तव्य का उद्देश्य स्पष्ट रूप से उभय पाक्षिक हैं। वह कथा-वस्तु की दृष्टि से सिंहलगढ़ पर सार्थक होते हैं, परन्तु अध्यात्म की दृष्टि से उनमें कायास्थित ब्रह्म की साधना का ब्यौरा मिलता है।

यह हुई पद्मावत की कथा-वस्तु।

(२) ऐतिहासिकता

इस कथावस्तु में ऐतिहासिकता कहाँ तक है इस पर विचार करना उचित होगा। परंतु इसके पहले ज़रा कथा का विश्लेषण कर लें।

कथा के केन्द्र तीन हैं—नागमती, पद्मावती और अलाउद्दीन। सिंघल, चित्तौड़ और दिल्ली। नागमती चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह की विवाहिता है। पद्मावती पहले रत्नसिंह की प्रेयसी

है फिर विवाहिता। अलाउद्दीन भी पद्मावती का प्रेमी है परन्तु उसका प्रेम वासनात्मक है और उसने प्रेम की साधना के मार्ग को न पकड़ तलवार और छल के मार्ग को पकड़ा है। इसीलिए पद्मावती उसके हाथ नहीं आती। उसके हाथ क्षार आती है।

सिंघल, चित्तौड़ और दिल्ली तीनों ऐतिहासिक प्रदेश हैं। सिंघलद्वीप को जायसी नगर के रूप में चित्रित करता है। स्पष्ट है कि आधुनिक सिंहल (लंका) से उसका विशेष परिचय नहीं था। सुनी-सुनाई बातों के आधार पर वह सिंघल का चित्रण कर रहा था। चित्तौड़ से रत्नसिंह ने सिंघल की जो यात्रा की है, उससे जान पड़ता है कि जायसी बंबई के आसपास कहीं सिंघलद्वीप होना मानते हैं और जब लौट कर राजा आता है तो वह बंगाल-समुद्र से होकर। वह जगन्नाथ पुरी पहुँचता है। इससे स्पष्ट है कि कवि सिंघल को भारत के ध्रुवदक्षिण में मानता था। उसे जगन्नाथपुरी से सिंघल तक के जलमार्ग का भी पता था। प्राचीन कथा-कहानियों में यह जल-मार्ग प्रसिद्ध रहा है। चित्तौड़ और दिल्ली आधुनिक चित्तौड़ और दिल्ली ही हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर पता चलता है कि १३०३ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ का घेरा किया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया। चित्तौड़ाधिपति लक्ष्मणसिंह कुछ सैनिकों के साथ चित्तौड़ छोड़ कर दक्षिण चले जाते हैं और पद्मिनी रनिवास के साथ जोहरव्रत धारण कर सती हो जाती है। ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना है। परन्तु भारतीय वाङ्मय में पद्मिनी और अलाउद्दीन को लेकर एक कहानी ही खड़ी कर ली गई है। जायसी के समय

वह कहानी अवश्य उसी रूप में प्रसिद्धि पा रही होगी जिस रूप में उन्होंने उसे ग्रहण किया है। अलाउद्दीन पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुन कर उस पर मोहित हो जाता है और आक्रमण करता है। परन्तु सफल न होकर संधि कर लेता है। अंतःपुर के दर्पण में पद्मिनी की झाँई देखकर वह व्याकुल हो जाता है और जब चित्तौड़पति उसे पहुँचाने बाहर जाता है तो छल से उसे पकड़ लेता है। पद्मिनी भी छल से काम लेती है। वह कहला देती है कि वह डोलों के साथ आ रही है और गोराबादल के साथ बंदी-शिविर में पहुँच कर पति को मुक्त करती है। एक वर्ष बाद अलाउद्दीन फिर आक्रमण करता है और इस बार सफल होता है। पद्मिनी सती हो जाती है।

यह तो जायसी की 'उत्तर कथा'। इसमें भी जायसी ने कई चीजें अपनी ओर से जोड़ दी हैं। राघवचेतन और कुम्भलनेर का राजा देवपाल जायसी की अपनी सूझ है। कुम्भ का समय अलाउद्दीन से बहुत पहले है। अतः अलाउद्दीन के समय कुम्भलनेर का अस्तित्व भी नहीं था। फिर वहाँ के राजा की बात ही कैसे उठती। देवपाल कहानियों में प्रसिद्ध नाम है। इसी से जायसी ने इसे अपना लिया। चित्तौड़पति (रत्नसेन) को अलाउद्दीन के हाथ से न मरवा कर कवि ने मर्यादा की ही रक्षा की है। रत्नसेन को हराने के लिए ही देवपाल की सृष्टि हुई जान पड़ती है।

परन्तु जायसी की 'पूर्वकथा'। की ऐतिहासिकता एकदम अनिश्चित है। उसमें जो है वह सब कल्पित है। चित्तौड़ का कोई राजा सिंहलद्वीप तक दौड़ेगा, इसकी कल्पना भी संभव नहीं। फिर चित्रसेन, गंधर्वसेन और रत्नसेन एवं नागमती सब कल्पित नाम सिद्ध होते हैं। इनका अलाउद्दीन-पद्मावति की कहानी

है फिर विवाहिता। अलाउद्दीन भी पद्मावती का प्रेमी है परन्तु उसका प्रेम वासनात्मक है और उसने प्रेम की साधना के मार्ग को न पकड़ तलवार और छल के मार्ग को पकड़ा है। इसीलिए पद्मावती उसके हाथ नहीं आती। उसके हाथ क्षार आती है।

सिंघल, चित्तौड़ और दिल्ली तीनों ऐतिहासिक प्रदेश हैं। सिंघलद्वीप को जायसी नगर के रूप में चित्रित करता है। स्पष्ट है कि आधुनिक सिंहल (लंका) से उसका विशेष परिचय नहीं था। सुनी-सुनाई बातों के आधार पर वह सिंघल का चित्रण कर रहा था। चित्तौड़ से रत्नसिंह ने सिंघल की जो यात्रा की है, उससे जान पड़ता है कि जायसी बंबई के आसपास कहीं सिंघलद्वीप होना मानते हैं और जब लौट कर राजा आता है तो वह बंगाल-समुद्र से होकर। वह जगन्नाथ पुरी पहुँचता है। इससे स्पष्ट है कि कवि सिंघल को भारत के ध्रुवदक्षिण में मानता था। उसे जगन्नाथपुरी से सिंघल तक के जलमार्ग का भी पता था। प्राचीन कथा-कहानियों में यह जल-मार्ग प्रसिद्ध रहा है। चित्तौड़ और दिल्ली आधुनिक चित्तौड़ और दिल्ली ही हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर पता चलता है कि १३०३ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ का घेरा किया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया। चित्तौड़ाधिपति लक्ष्मणसिंह कुछ सैनिकों के साथ चित्तौड़ छोड़ कर दक्षिण चले जाते हैं और पद्मिनी रनिवास के साथ जौहरव्रत धारण कर सती हो जाती है। ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना है। परन्तु भारतीय वाङ्मय में पद्मिनी और अलाउद्दीन को लेकर एक कहानी ही खड़ी कर ली गई है। जायसी के समय

वह कहानी अवश्य उसी रूप में प्रसिद्धि पा रही होगी जिस रूप में उन्होंने उसे ग्रहण किया है। अलाउद्दीन पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुन कर उस पर मोहित हो जाता है और आक्रमण करता है। परन्तु सफल न होकर संधि कर लेता है। अंतःपुर के दर्पण में पद्मिनी की झाँई देखकर वह व्याकुल हो जाता है और जब चित्तौड़पति उसे पहुँचाने बाहर जाता है तो छल से उसे पकड़ लेता है। पद्मिनी भी छल से काम लेती है। वह कहला देती है कि वह डोलों के साथ आ रही है और गोराबादल के साथ बंदी-शिविर में पहुँच कर पति को मुक्त करती है। एक वर्ष बाद अलाउद्दीन फिर आक्रमण करता है और इस बार सफल होता है। पद्मिनी सती हो जाती है।

यह तो जायसी की 'उत्तर कथा'। इसमें भी जायसी ने कई चीज़ें अपनी ओर से जोड़ दी हैं। राघवचेतन और कुम्भलनेर का राजा देवपाल जायसी की अपनी सूझ है। कुम्भ का समय अलाउद्दीन से बहुत पहले है। अतः अलाउद्दीन के समय कुम्भलनेर का अस्तित्व भी नहीं था। फिर वहाँ के राजा की बात ही कैसे उठती। देवपाल कहानियों में प्रसिद्ध नाम है। इसी से जायसी ने इसे अपना लिया। चित्तौड़पति (रत्नसेन) को अलाउद्दीन के हाथ से न मरवा कर कवि ने मर्यादा की ही रक्षा की है। रत्नसेन को हराने के लिए ही देवपाल की सृष्टि हुई जान पड़ती है।

परन्तु जायसी की 'पूर्वकथा'। की ऐतिहासिकता एकदम अनिश्चित है। उसमें जो है वह सब कल्पित है। चित्तौड़ का कोई राजा सिंहलद्वीप तक दौड़ेगा, इसकी कल्पना भी संभव नहीं। फिर चित्रसेन, गंधर्वसेन और रत्नसेन एवं नागमती सब कल्पित नाम सिद्ध होते हैं। इनका अलाउद्दीन-पद्मावति की कहानी

से कोई सम्बन्ध नहीं। पद्मिनी के पति का नाम लक्ष्मणसिंह मिलता है, रतनसिंह नहीं। संभव है, राणा सांगा (मृ० १५२७) के उत्तराधिकारी महाराणा रत्नसिंह (१४६१-१५३१) के नाम पर ही जायसी को "रत्नसेन' नाम की प्रेरणा मिली हो। महाराणा रत्नसिंह बूँदी के हाड़ा सूरजमल के साथ आती हुई पारस्परिक अनबन के कारण उन्हीं के हाथों किसी शिकार के समय मार डाले गये और कदाचित् यह वृत्त ही नये रूप में 'पद्मावत' के 'रत्नसेन' के साथ जोड़ दिया गया। इस प्रकार इतिहास के सूरजमल कल्पना के देवपाल हो गए। सन् १५३२ ई० में गुजरात के बादशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई की और कुछ समय तक युद्ध होने के उपरांत संधि हो गई। किन्तु सन् १५३४ में ही उसने फिर दूसरा आक्रमण किया। चित्तौड़ पर बादशाह का अधिकार हो गया और रानियों ने जोहर कर लिया।

संभव है जायसी का चित्रसेन महाभारत का गंधर्वराज चित्रसेन हो और गंधर्वसेन बन गया हो। यह निश्चित है कि जायसी के काव्य-काल (१५२०-४०) में चित्तौड़ की प्रसिद्धि विशेष रही होगी। १५२७ में राणा सांगा ने साकरी के युद्ध में राजपूतों का नेतृत्व किया था और उस युद्ध में बाबर को अत्यंत साहस से ही विजय प्राप्त हो सकी थी। बाबर के बाद ही लगभग ५० वर्ष तक चित्तौड़ बराबर मुसलमानों से मोर्चा लेता रहा। इसी से उस समय की जनता (विशेषकर हिंदू जनता) के लिए 'चित्तौड़' की कथाओं में विशेष आकर्षण रहा होगा संभव है, तत्कालीन राजनीति की घटनाओं के आधार पर लोक-कथाओं में अलाउद्दीन पद्मिनी की कहानी का पुनर्निर्माण हुआ हो और जायसी को यह नई कहानी ही हाथ लगी हो।

परंतु पूर्वकथा का आधार एकदम अनैतिहासिक है।

संभव है, नागमती 'बीसलदेव रासो' की राजमती का पुनः-संस्करण हो, परंतु नागमती का कोई ऐतिहासिक आधार है, इस संबंध में संदेह है। १४५६ ई० के दामो की लक्ष्मणसेन-पद्मावती की कहानी और लालसेन की पद्मिनी चरित में भी यही पूर्वकथा कुछ हेर-फेर के साथ संग्रहीत है। लालचंद की रचना में नागमती का स्थान प्रभावती ले लेती है। जो हो, पद्मावति की सपत्नी के संबंध में इतिहास मौन है। फिर भी कथाओं में तो सौत चल ही रही है और यदि जायसी ने इसका आधार लेकर एक उत्कृष्ट विरह-काव्य की रचना की तो उन्हें श्रेय मिलना ही चाहिये।

जान पड़ता है, सिंहल और पद्मिनी स्त्रियों का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आता था। योगियों में इनकी प्रसिद्धि थी। कथा है, कि मत्स्येन्द्रनाथ सिंहल में पद्मिनी सुन्दरियों के मोह में फँस गये थे और गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। 'कामरूप' और 'सिंहल' जोगियों के लिए सिद्धि में बाधक माने गये हैं। नाथ-साहित्य में 'कामरूप' और 'सिंहल' की सुन्दरियों की बार-बार चर्चा है। जायसी ने काया-गढ़ के रूप में सिंहल का जो वर्णन किया है और गढ़-छेका खण्ड में सिंहल-विजय की कठिनाइयों का जैसा चित्रण किया है, उससे यह स्पष्ट है कि वह नाथों (जोगियों) की कथा-परंपरा से प्रभावित हैं। 'पद्मावत' में जोग की शब्दावली और साधना का परिचय इस बात के प्रमाण हैं। नाम-साम्य के कारण इतिहास की 'पद्मिनी' का सामान्य 'पद्मिनी' नारी से सम्बन्ध जोड़ दिया गया और चित्तौड़ की रानी को सिंहल में जन्म लेना पड़ा। पद्मिनी-प्राप्ति की साधना ईश्वर-प्राप्ति की साधना का प्रतीक बन गई। जायसी ने अपनी पूर्वकथा में विस्तृत रूप से आध्यात्मिक रूपक का आरोप किया है। और वह रूपक

प्रत्येक प्रकार उसकी आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट कर सकता है। आगे हम उस पर विचार करेंगे। तोते द्वारा पूर्वराग के जन्म की बात भी अनेक लोककथाओं में मिलती है। अतः पूर्वकथा में लोककथा और जोगी-कथा का अद्भुत संगम है और अज्ञातरूप से अध्यात्म-तत्त्व का आरोप अन्तःसलिला सरस्वती के रूप में उपस्थित है। इस प्रकार जायसी की कथा के तीन अंग हैं:

१—नागमती की विरह-कथा (लौकिक विरह-कथा जिसमें षट्ऋतु की योजना है। वीसलदेव रासो में इस प्रकार की कथा का एक साहित्यिक रूप संग्रहीत है।)

२—रत्नसेन-पद्मिनी की कथा[1] (लोक-कथा, जोगियों में प्रसिद्ध कथा और रूपक की त्रिवेणी)

३—उत्तर कथा [ऐतिहासिक कथा]। जायसी ने इस उत्तरा कथा पर ही स्पष्ट रूप से आध्यात्मिक रूपक का आरोप करना चाहा है।

(३) कथा-संगठन

परंतु ये तीन कथाएँ एकदम स्वतंत्र नहीं हैं। जायसी ने विशेष चातुर्य से तीनों कथाओं का गठबंधन कर दिया है। कम से कम पूर्वकथा और उत्तरकथा के रूप में कथा के दो विभाजन तो संभव हैं ही। पहली कथा का फलागम पद्मावति की प्राप्ति है। रत्नसेन-संतति खंड (३७) में पूर्वकथा समाप्त हो जाती

---

१ डॉ कमल कुलश्रेष्ठ ने अपनी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' में जायसी से पहले के एक संस्कृत काव्य का उल्लेख किया है जो पाठक राजवल्लभ की रचना है और जिसका समय १४१० ई० है अर्थात् घटना से सौ वर्ष बाद। इसमें नायक का नाम रत्नसेन ही है। यदि इस रचना का विशेष रूप से अध्ययन हो जाय तो पद्मावत की बहुत कुछ उलझनें हल हो सकती हैं।

है और नई कथा का आरंभ होता है। राघवचेतन दूसरी कथा का नायक है। उसे खलनायक भी कह सकते हैं। उसी ने अलाउद्दीन को बहकाया और चित्तौड़ की ओर उसका मुँह फेरा। राघवचेतन को ही एक प्रकार इस कथा का सूत्रधार कहा जा सकता है। राजा रतनसेन ने उसका अपमान किया। उससे चिढ़ कर राघवचेतन दिल्ली चला गया और उसने रतनसेन को नई उलझनों में डाल दिया। परोक्ष रूप से चित्तौड़ की दुखांत परिणति का कारण वही हुआ। इस कथा में ऐतिहासिकता की मात्रा इतनी अधिक थी कि आध्यात्मिक रूपक का आरोप भली भाँति नहीं हो पाया है।

कथा-संगठन की दृष्टि से दोनों कथाएँ पुष्ट हैं। यह जायसी के लिए श्रेय की ही बात होगी। हिंदी कथा-साहित्य की अधिकांश कथाएँ विशृङ्खल हैं, परंतु जायसी के पद्मावत के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की दोनों कथाएँ पंचसंधियों पर पूरी उतरती हैं। इस सौष्ठव के कारण कथा में और भी चमत्कार आ जाता है। 'मसनवी'-काव्यों में कथाएँ बराबर पुष्ट मिलती हैं। इसका कारण यह है कि लेखक प्रसिद्ध लोक-कथाओं को लेता है और लोक-कथाएँ युग-युग से चलती आने के कारण प्रत्येक अंग में पुष्ट होती हैं। कल्पना का रंग चढ़ा कर कवि उन्हें और भी संगठित कर लेता है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि जायसी की कथावस्तु अत्यंत रोचक है और वह भली भाँति संगठित हो सकी है।

परंतु यह तो कहना ही पड़ेगा कि जायसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी कि वह लोक और इतिहास में चलती हुई रतनसेन, पद्मावती और अलाउद्दीन संबंधी दोनों कथाओं को एक केन्द्र पर ले आते। यदि वह ऐसा कर लेते तो कला की दृष्टि से यह

रचना और भी पुष्ट होती ! जिस प्रकार कथा उपलब्ध है उस प्रकार पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को बाँधने वाले किसी सूत्र का पता नहीं चलता। पूर्वार्द्ध में न राघवचेतन का पता है, न अलाउद्दीन। इस प्रकार न राघवचेतन ही इस सारी कथा को बाँध सका, न अलाउद्दीन। केवल पद्मावती और रतनसेन ही दोनों कथाओं को जोड़ते हैं। यदि कवि पद्मावती को सिंहल की राजकन्या नहीं बनाता, यदि वह मारवाड़ या गुजरात की ही कोई कुमारी बनाई जाती, तो राघवचेतन अथवा अलाउद्दीन का संबंध उससे जोड़ा जा सकता था। यदि राघवचेतन या अलाउद्दीन रतनसेन के प्रतिद्वन्द्वी नायक के रूप में खड़े हो सकते तो इस समस्या का हल निश्चित था।

हो सकता है स्वयं जायसी ने इस सारी कथा को एक बार नहीं लिखा हो और इस प्रकार उसमें विशृंखलता का समावेश हो गया है। कम-से-कम 'नागमती का विरह' (षटऋतु) और 'नखशिख' तो स्वतन्त्र रचनाएँ ही हैं जो 'पद्मावत' का अंग बना दी गई हैं। संभव है, 'नागमती के विरह-वर्णन' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर जायसी को यह प्रेरणा हुई है कि किसी लोक-प्रसिद्ध जनकथा से इसका संबंध जोड़ा जाये और एक महत्वपूर्ण सामयिक घटना से उन्हें यह जनकथा प्राप्त हो गई। यह घटना १५२६ ई० का गुजरात के बादशाह बहादुरशाह का चित्तौड़ पर आक्रमण था। एक वर्ष पहले बहादुरशाह असफल हुआ था परन्तु इस वर्ष वह सफल हुआ। कदाचित बहादुरशाह की यही सफलता-असफलता की कथाएँ 'पद्मिनी' (पद्मावत) की कहानी से जुड़ गई और जायसी ने इसी जन-प्रसिद्ध रूप में उन्हें ग्रहण किया। जायसी को रतनसेन (रत्नसिंह) नाम भी इस घटना से प्राप्त हो गया। अतः पद्मावत का काल स्पष्टतः १५२६-४० है। यही जायसी

का साधना-काल है। जान पड़ता है, उन्होंने यह सारा समय कालपी में बिताया जो इन दिनों एक प्रसिद्ध सूफ़ी (चिश्ती) परम्परा का केन्द्र था। जायस के प्रति कवि को जो मोह है उससे यह निश्चित है कि उसका अधिकांश जीवन यहीं बीता।

(४) रूपक का आरोप

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पद्मावत की कथा फ़ारसी मसनवी-शैली पर लिखी गई है। सारी कथा एक अत्यन्त प्रवहमान गति से बढ़ रही है। कदाचित् जायसी ने उसके खंड नहीं किये हैं। बाद में विषयानुरूप लोगों ने उसके खंड कर लिये। यदि जायसी सर्गों के ढंग पर खंडों की कल्पना करता तो ये संख्या में कम होते और इनके आकार में इतनी विभिन्नता नहीं होती। किसी भी मसनवी में सर्ग के ढंग पर कथावस्तु का विभाजन नहीं किया गया है। हाँ, स्थान-स्थान पर गद्य में कथा का विषय बताया जाता रहता है।

पद्मावत की कथा लौकिक है। नायक के महान् प्रयत्न ने उसमें प्राण डाल दिये हैं। पद्मावति और रत्नसेन के बीच में प्रारंभ में कोई भी खलनायक नहीं है। जो बाधाएँ हैं, वह केवल बाह्य हैं, प्राकृतिक हैं। उन्हें पार कर लेने पर पद्मावति की प्राप्ति हो जाती है परन्तु उन्हें पार करना हँसी खेल नहीं है। लक्ष्य-प्राप्ति की कठिनाइयाँ ही सूफ़ी-साधनापथ की गहनता की प्रतीक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सारी कथा ही रूपक है। इस्लामी साहित्य में लैला मजनूं, शीरीं-फ़रहाद और यूसुफ-जलैखा जैसी लौकिक प्रेम की कथाएँ सूफ़ियों ने पारलौकिक प्रेम की व्यंजना के रूप में ग्रहण कर ली थीं। इन पर अनेक मसनवियाँ लिखी गईं। मसनवी-भर में कवि कथा की पारलौकिकता का जरा भी इशारा नहीं देता। वह केवल

कथा को अत्यंत भावुकता से आगे बढ़ाता है और प्रेम और विरह के संबन्ध में मार्मिक उक्तियाँ कहता जाता है। स्थल-स्थल पर कवि-कथन के रूप में जो आ जाता है, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। सूफ़ी-साधक के लिए वही मनन और साधना की वस्तु है।

इस प्रकार हम देखते हैं, पद्मावत का पूर्वार्द्ध उत्कृष्ट रूपक है। जायसी ने मन को साधना को ही कथा का रूप दिया है। कथा उन्हें गढ़नी नहीं पड़ी, गढ़ी-गढ़ाई कथा उन्हें मिल गई, यह दूसरी बात है। सांकेतिक कोष में कवि कहता है—

तव चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा
गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा

इसमें चित्तौड़ तन है, रतनसेन मन है। चित्तौड़रूपी तन में स्थित मन साधारण रूप से लौकिक विषय-वासना में लिपटा रहता है। रतनसेन केवल तन में स्थित है, उसकी वृत्तियाँ कायिक हैं। वह दुनिया-धन्धे (नागमती) में लिप्त है। परन्तु ईश्वर की अनुकंपा से एक दिन उसे नागमती से भी बड़े सौंदर्य का पता चल जाता है। इस दुनिया-धंधे से भी बड़ा 'धंधा' मनुष्य के लिए है। वह जान लेता है। उस लक्ष्य के लिए उसके हृदय में आकुलता उत्पन्न हो जाती है। परंतु उस लक्ष्य तक उसका पथ-प्रदर्शक कौन बने। पथ-प्रदर्शक बनता है हीरा-मन तोता (सुआ)। वह सूफ़ी-साधना के 'गुरु' का प्रतीक है। अनेक बाधाओं को पार करके गुरु के दिखाये पथ पर बढ़ता हुआ साधक रतनसेन लक्ष्य की प्राप्ति करता है। परंतु लक्ष्य कहीं बाहर नहीं है। इसी हृदय (सिंहल) के भीतर अवस्थित सहज सौन्दर्य बुद्धि (Intution) ही साधक की लक्ष्य है। पहले इस सहज बुद्धि (पद्मिनी) को ही पाना होता है। सूफ़ी

परिभाषा में इस संकेत-कोष को इस प्रकार भी रख सकते हैं—

चित्तौड़ = तन = }
(राजा) रतनसेन = मन = } सालिक, आबिद की 'अक़्ल'
(सुआ) हीरामन = गुरु = मुरशिद
सिंहलद्वीप = हृदय = क़ल्ब (रूह)
पद्मिनी = सहज बुद्धि = मुआरिफ़ (प्रज्ञा)
नागमती = दुनिया-धंधा = नफ़्स

सालिक (साधक) के मार्ग में दो बाधाएँ हैं अक़्ल (मन) और नफ़्स (नागमती)। वह नफ़्स (नागमती) द्वारा अपने तन चित्तौड़ में ही लीन रहता है। परन्तु यदि उसे मुरशिद-कामिल (सुआ) मिल जाता है, तो वह 'नफ़्स' से छुटकारा पा जाता है और क़ल्ब या 'रूह' में स्थित 'मुआरिफ़' (सहज बुद्धि, प्रज्ञा) की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। नागमती (नफ़्स) भी सुन्दर और मोहक है और पद्मिनी (मुआरिफ़) भी सुन्दर है, अतः जायसी ने दोनों को सुन्दर चित्रित किया है। नफ़्स मुरशिद में विश्वास नहीं करती, इसी से नागमती सुए को मार डालना चाहती है। परन्तु एक बार 'मुआरिफ़' का सौन्दर्य साधक (सालिक) ने जान लिया तो वह मुड़ नहीं सकता। वह लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य करेगा। कथा में यदि नागमती की अवतारणा नहीं होती, तो नफ़्स की मोहकता और उसके बंधन का चित्रण भी नहीं हो पाता।

परंतु फिर प्रश्न उठता है, नागमती के विरह और पद्मिनी के प्राप्ति पर नागमती और पद्मावती के रतनसेन के साथ प्रसन्न रहने और कमलसेन और नागसेन पुत्रों के जन्म का क्या रहस्य है। नागमती का विरह केवल भारतीय साहित्य-परंपरा के कारण पद्मावत में स्थान पा रहा है। रूपक तो है ही, परंतु जब विशिष्ट पात्र खड़े किये गये हैं, तो कथा को आवश्यकता

का भी पूरा करना होगा। 'षट्ऋतु वर्णन' के बिना कोई काव्य कैसे पूर्ण कहा जा सकता था ? इसी से 'नागमती के विरह' की योजना हुई। उसके पीछे किसी प्रकार का संकेत ढूँढना बुद्धि-विलास ही होगा। हाँ, सूफ़ी-साधना में विरह का बड़ा महत्व है। इससे नागमती के विरह-वर्णन में स्वतंत्र रूप से जो 'प्रेम की पीर' प्रकाशित हो गई है, वह तो सूफ़ी परंपरा की चीज़ है ही। पद्मिनी के प्राप्ति से नागमती के साथ प्रसन्नता-पूर्वक रहने का अर्थ केवल यही है कि मुआरिफ़ का उदय होने पर सालिक नफ़्सपरस्ती से हट जाता है। उसकी इंद्रियाँ ईश्वरोन्मुख हो जाती हैं। नफ़्स (नागमती) से भागने की उसे आवश्यकता नहीं होती। कमलसेन और नागसेन का जन्म केवल कथा को सुखद बनाने के लिए है। पद्मावती का पुत्र पद्मसेन या कमल-सेन और नागमती का नागसेन। इससे अधिक कोई रहस्य इसमें नहीं है। हाँ, नागमती नाम चुनते समय जायसी को कदाचित नागपाश (बंधन) का ख्याल हो आया हो।

यह रही पूर्वार्द्ध की बात।

उत्तरार्द्ध में नागमती (नफ़्स) का कोई महत्व नहीं रह जाता। वह पद्मावती (मुआरिफ़) की पोषक या सहगामिनि मात्र है। 'सुआ' और 'सिंहल' के प्रतीक भी समाप्त हो जाते हैं। कुछ नये प्रतीक आये हैं। राघवचेतन=सैतान (शैतान) अलाउद्दीन सुलतान=माया। इन दो प्रतीकों को देकर उत्तर कथा की ओर से जायसी निश्चित हो गये हैं और अर्थ खोलने के लिए पंडित-बुद्धि को 'चैलेञ्ज' देते हैं। साधक की नफ़्स-शुद्धि और प्रज्ञा (मुआरिफ़) से उसका मेल शैतान को पसंद नहीं। ख़ुदा और बंदे के बीच में शैतान है। 'मुआरिफ़' ख़ुदा की ओर ले जाती है, अतः शैतान को यह विष लगता है। अतः वह बंदे और ख़ुदा (रतनसेन और पद्मावती) में विछोह

डालना चाहता है। वह माया की शरण जाता है। सूफ़ी परिभाषा में राघवचेतन शैतान है और अलाउद्दीन—अलाउद्दीन को जायसी ने 'माया' कहा है। सूफ़ी दार्शनिक चिंतन में 'माया' का स्थान ही नहीं है। हमारे यहाँ 'माया' जीव-ब्रह्म के बीच का व्यवधान है। 'माया' का अर्थ सांसारिकता भी है जो जीव-ब्रह्म के मिलन में बाधक होती है—जो साधक को इन्द्रियता की ओर ले जाती है। इस्लाम में 'माया' का स्थान शैतान ने ले लिया है। अलाउद्दीन को 'माया' कहकर जायसी ने भारतीय दार्शनिक चिंतन के एक शब्द को अपना लिया, परन्तु विद्वानों के लिये समस्या खड़ी कर दी। अलाउद्दीन—माया ?

सालिक जब सहज-बुद्धि, प्रज्ञा या मुआरिफ को प्राप्त हो गया तो फिर शैतान और माया का क्या काम ? परंतु जायसी तो कथा की रक्षा करते हुए आगे बढ़ना चाहते थे। यदि वे ३७वें खंड (पुत्रजन्म खण्ड) पर ही कहानी समाप्त कर देते, तो प्रतीकों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परंतु अलाउद्दीन-पद्मिनी की अत्यंत प्रसिद्ध कथा को वे एकदम आँख की ओट नहीं कर सकते थे। जब वह उत्तरार्द्ध की सारी कथा लिख गये, तो उन्हें विवश होकर उसके सूफ़ी-अर्थ करना पड़े। इसी से नए प्रतीक आये। शैतान और (या) माया साधक के प्रज्ञा के आनंद में बाधा डालने के लिये सब कुछ करेगा यही तथ्य है। हो सकता है, वह सफल भी हो जाय (जैसा 'पद्मावत' में हुआ है) परन्तु यह किसी निश्चित तथ्य को उपस्थित नहीं करता। साधारण कथा को लेकर उसपर अध्यात्म पक्ष का आरोप करने में जो कठिनाइयाँ होतीं, वह जायसी को भी हुई। वास्तव में अध्यात्म (रूपक) की दृष्टि से उत्तरार्द्ध महत्वपूर्ण नहीं है।

सच तो यह है कि 'पद्मावत' की कथा को एक निश्चित

दृष्टिकोण से देखना होगा। हम कह सकते हैं कि—

१—कथा दो निश्चित भागों में बँटी है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। ३७वें खण्ड तक पूर्वार्द्ध जाता है।

२—पूर्वार्द्ध की कथा का आश्रय है लोक-कथा, उत्तरार्द्ध का इतिहास या ऐतिहासिक जन-प्रसिद्धि।

३—पूर्वार्द्ध की कथा समासोक्ति है। उस पर सूफ़ी आध्यात्मिक साधना का आरोप सरलता से हो सकता है।

४—उत्तरार्द्ध की कथा में जायसी ने दो रूपक प्रतिष्ठित किये हैं, परंतु वह कदाचित् सारी कथा को आध्यात्मिक अर्थ देने के लिए। कथा के ऐतिहासिक और कथात्मक विकास में ये रूपक बह जाते हैं। इनसे किसी भी प्रकार की साधना-पद्धति नहीं बनती। यह कहा जा सकता है कि रतनसेन (सालिक) की शुद्ध प्रेम के विरुद्ध अलाउद्दीन के वासनात्मक प्रेम की असफलता इस कथा द्वारा व्यंजित हुई है। जहाँ मुरशिद द्वारा नेतृत्व पाने वाला सालिक सफल है, वहाँ शैतान द्वारा वरग़लाया हुआ इंसान असफल है। मुआरिफ़ मुरशिद की ही कृपा का फल है, शैतान तो धूल-भर दे सकता है। इस प्रकार इस खल-कथा से परोक्ष में साधक की शुद्ध प्रेम-साधना की उज्ज्वलता पर ही प्रकाश पड़ता है। परन्तु यह कथा इस लिए नहीं लिखी गई है। केवल कथा के लिए कथा लिखकर जायसी को उसके सूफ़ी अर्थ लगाना पड़े। वे लगा नहीं सके। शैतान और माया में वे उलझ कर रह गये। इतनी बड़ी अतिरिक्त कथा में रूपक का आरोप साधारण मेधा का काम नहीं था। इस प्रकार उत्तरार्द्ध की कथा न समासोक्ति है, न अन्योक्ति, कथा-मात्र है। उसकी ऐतिहासिकता भी अनिश्चित है।

परंतु पद्मावत में केवल सूफ़ी-साधना ही सन्निहित नहीं है। एक अन्य साधना का भी पूरा-पूरा विवरण इसमें मिलता

है। यह है योग (हठयोग) की साधना। गढ़-छेका खण्ड में इस धारा का सांगोपाङ्ग विवेचन है। हठयोग की परिभाषा के अनेक शब्दों को जायसी ने अपना लिया है। काया-नगरी की बात उन्होंने बार-बार कही है—

जैसे अहै पिरथिमी सिगरी। तैसी जानहु काया नगरी
× ×
जस चौदह खंड तैस सापा
× ×
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुस के घट मांही
× ×
नव पौरी बाँकी नव खंडा। नवौं जो चढ़ै जाइ बरम्हण्डा
× ×
नव पौरी पर दसवँ दुवारा
× ×
नव पौरी तेहि गढ़ मँझियारा। औं तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा
दसव दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बार सुठि बांका
भेंटे जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चांटी
गढ़ तर कुंड सुरँग तेहि माहीं। तहँ वह पंथ कहौं तेहि पाहीं
चोर बैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी
जस मरजिओ समुद्र धँस, हाथ आव तब सीप
ढूँढि लेइ जो सरग दुआरी, चढ़ै सो सिंघलदीप

योगियों की साधना के अनेक भेद जायसी को ज्ञात हैं जैसे गुरु[१], चेला[२], धातु कमाना[३], रसायन-सिद्धि[४], हरतार[५], गंधक[६], कुरकुटा[७], सिद्धि-गुटका[८], मेखला[९], सिंघी[१०], चक्र[११],

१, २—गुरु कहाँ रे चेला, ग्रंथावली, पृ० १४७
३—८ धातु कमाय[३] सिखे तैं जोगी। अब कस भा निरधातु वियोगी
कहाँ सो खोएहु बिरवा लोना। जेहिं ते होइ रूप औ सोना[४]

धँधारी१२, जोग बाट१३, रुद्राक्ष१४, अधारी१५, कंथा१६, दण्ड१७, मुद्रा१८, जपमाला१९, उदपान२०, बघछाला२१, पाँवरी२२, छाता२३, खप्पर२४। अन्य दो ग्रंथों में उन्होंने वज्रासन२५, सुखमना२६ (सुषुम्ना), पिंगला२७, आहार-संयम२८, ध्यान२९, अनहद३० और शून्य३१ का भी उल्लेख किया है। लोहार का रूपक लेकर कवि प्राणायाम और ध्यान को साधना को समझाता है३२। जान पड़ता है, कवि नाथपंथियों (योगियों) की साधना से पूर्णतः परिचित था और पद्मावत के पूर्वार्द्ध में उस साधना को ही प्रधानता दी गई है। परंतु यह प्रधानता ऊपरी है। जायसी अपने प्रदेश में प्रचलित योगियों की हठयोगी साधना के स्थान पर प्रेम की साधना की प्रतिष्ठा कर रहे हैं, यह स्पष्ट है। पद्मावती की सखियाँ रत्नसेन के जोगीवेष की खिल्ली उड़ाती हैं और उसके संबंध में प्रश्न करती हैं। तब रत्नसेन भी जोगी-साधना की असार्थकता बता कर केवल प्रेमतत्त्व की दुहाई देता है और उसे ही प्रियतम-प्राप्ति की एकमात्र साधन मानता है। स्पष्ट है कि लक्ष्य पर पहुँच कर रतनसेन का इस तरह कहना कुछ विशेष अर्थ रखता है—

का हरतार५ पार नहिं आवा। गधक६ कस्हे कुटकुटा७ खावा।
तजा राज राजा भा जोगीह। औ किंगरी कर गहे वियोगी
तन विसँभर मन वाउर लटा। अरुझा प्रेम परी सिर जटा
मेखल९ सिंघी १०चक्र११ धँधारी१२। जोग वाट१३ रुदराछ१४ अधारी१५
कंथा१६ पहिरि दण्ड१७ कर गहा। सिद्ध होय कहँ गोरख कहा
मुद्रा१८ स्रुवन कंठ जयमाला१९। कर उदपान२० कांध बघछाला२१
पांवरि२२ पाव, दीन्ह सिर छाता२३। खप्पर२४ लीन्ह भेस करि राता
चला मुगुति माँगे कहँ सांधि कया तप जोग।
सिद्ध होइ पद्मावति जेहि कर दिए वियोग॥

(वही, ६०)

का पूछहु तुम धातु निछोही। जो गुरु कीन अँतर पट ओही
सिधि गुटका अब मो सँग कहा। भएउ राँग सत हिए न रहा
सो न रूप जासौं दुख खोलौं। गएउ भरोस तहाँ का बोलौं
जँह लोना विरवा कै जाती। कहि कै संदेस आन को पाती
कै जो पार हरतार करीजै। गंधक देखि अबहिं जिउ दीजै

× × ×

होइ अबरक इंगुर भया फेरि अगिनि मँह दीन्ह।
काया भीतर होइ कनक जो तुम चाहौ कीन्ह॥

विष जो दीन्ह अमृत देखाई। तेहि रे विछोही को पतियाई
मरै सोइ जो होय निगूना। पीर न जानै विरह विहूना

× × ×

सिद्ध गुटीका जा पहँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं

ऊपर के उद्धरण में स्पष्टरूप से 'जोग' की साधना की अवहेलना है। योग के वाह्याडंवरों और साधनों को प्रेम से नीचे बताया है। 'भयउ राँग सत हिए न रहा' से इस बात का ही इंगित है। जान पड़ता है, जायसी हठयोग और सूफ़ीमत का समन्वय चाहते हैं और योग की अनेक साधनाओं को मानते हुए अंत में 'प्रेम की पीर की साधना' को ही सबसे ऊँचा बताते हैं। रूपक-कोष में भी उन्होंने सूफ़ी रहस्य-साधना का ही इंगित किया है। बहुत-सी बातों में सूफ़ियों और योगियों में साम्य था। सूफ़ियों की भाँति जोगी भी अंतःसाधना पर बल देते थे और काया (पिंड) के भीतर ब्रह्म (ब्रह्मांड) को ढूँढ़ते थे। जहाँ तक काया-गढ़ का भेदन और इंद्रियों का शम-दम द्वारा नियमन है, वहाँ तक जायसी का योगी-मतवाद से कोई विरोध नहीं। परन्तु सारी कथा पर सूफ़ी मतवाद के अनुसार रूपक खड़ा करने से जायसी सूफ़ी ही निकलते हैं, जोगी नहीं।

कदाचित् जायसी कबीर को सूफ़ी ही मानते थे, इसी से "एक जुलाहें तैं मैं हारा" नारद (माया) के मुँह से कहलाते हैं। कबीर के सिद्धांतों में अपने मतवाद को पुष्टि देखकर जायसी ने उन्हें आदर से याद किया है। दोनों में अंतर यही है कि कबीर बेशिरा (ज़िंदीक़) सूफ़ी हैं, जायसी 'बाशिरा'।

प्रकृति

सूफ़ी प्रकृति को परमात्मा का प्रतिबिम्ब मानते हैं। इस दृष्टि से प्रकृति उन्हें बड़ी प्रिय है और वह प्रकृति प्रेम को परमात्मा तक पहुँचने का साधन समझते हैं। सारे भारतीय साहित्य में प्रकृति का इतना रोमांचक, इतना अतिशयोक्तिपूर्ण परन्तु ऐश्वर्यशाली वर्णन कहीं नहीं मिलेगा, जितना सूफ़ी काव्य में। अँग्रेज़ी रहस्यवादी और रोमांटिक कवियों के प्रकृति-काव्य से हम इसकी तुलना कर सकते हैं।

जायसी के प्रकृति के प्रयोग अनेक ढंग के हैं। सघन अमराई का एक वर्णन लीजिये। कवि कहता—

घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि उत लगि आकासा।
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छाँह रैनि होइ आई।
मलय समीर सोहावनि छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ।
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास दिखावै।
पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुख बिसरै, सुख होई बिसरामू।
जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिर नहिं आइ सहै यह धूपा।
फरै आँव अति सघन सोहाए। औ जस फरै अधिक सिर नाए।
खिरनी पाकि खाँड असि मीठी। जामुन पाकि भँवर अस दीठी।
पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधुजस मीठ पुहुप जस बासू।

लवँग सुपारी जायफल सब फर फरे अनूप।
आस पास घन इमिली औ घन तार खजूर॥

भोर होत बोलहिं चुहचुही। बोलहि पांडुक "एकै तुही"
सारों सुआ जो रहचह करहीं। कुरहिं परवा औ करवरहीं
'पीव पीव' कर लाग पपीहा। 'तुही तुही' कर गडुरी जीहा
'कुहू कुहू' करि कोइलि राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाषा
'दही कहीं' कर महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपनहारा
कुहुकहिं मोर सुहावन लागा। होइ कुराहर बोलहिं कागा

जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराँउ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दई कर नाँउ॥

स्पष्ट कि कवि फल-फूलों और पशु-पक्षियों की सूची दे देना प्रकृति-वर्णन मानता है। न जाने क्यों, जायसी ने स्थान-स्थान पर अपनी ज्ञान-बहुलता दिखाई है। मसनवी-काव्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं है। कवि मंतव्य विषय को लेकर आगे बढ़ता है, सूची उसे नहीं देना। कहाँ से यह परिगणन-शैली जायसी के हाथ लगी, यह कहना कठिन है।

परन्तु यह परिगणन शैली कहीं-कहीं इतनी दूर चली जाती है कि नीरसता के सिवा पाठक के हाथ और कुछ नहीं लगता। एक 'बारी' (बाग) का वर्णन करता हुआ कवि कहता है —

आस-पास बहु अमृत बारी। फरीं अपूर, होइ रखवारी
नारँग नींबू सुरँग जँभीरा। औ बदाम बहु भेद अँजीरा
गलगल तुरँज सदाफर फरे। नारँग अति राते रस भरे
किसमिस सेव फरै नौ पाता। दारिउँ दाख देखि मन राता
लागि सुहाई हरफारयोटी। उनै रही केरा कै घौटी
फरे तूत कमरख औ न्योजी। राय करौंदा बेर चिरौंजी
संगतरा व छुहारा दीठे। और खजहजा खाटे मीठे

इस प्रकार के 'कोष' साहित्य में क्या स्थान पा सकेंगे ? जायसी की काव्य की सब से बड़ी दुर्बलता यही वर्णन हैं।

परन्तु जायसी ने केवल वस्तु-ज्ञान और अनुभूति पर ही अपने प्राकृत काव्य का महल नहीं खड़ा किया है, उन्होंने कल्पना से प्रकृति तत्त्वों में परिवर्द्धन भी करना चाहा है। खीर (क्षीर) समुद्र, दधि-समुद्र, उदधि-समुद्र (?), सुरा-समुद्र, किलकिला-समुद्र जैसे नये-नये कल्पना के समुद्र जायसी के काव्य में ही मिलेंगे। किलकिला-समुद्र का वर्णन देखिये—

भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा
उठै लहर परवत के नाईं। फिरि आवै जोजन सौ ताईं
धरती लेह सरगि लहि बाढा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा
नीर होय तर ऊपर सोई। माथे रंग समुद्र जस होई
फिरत समुद्र जोजन सो ताका। जैसे भँवे कोहाँर का चाका
गै औसान सवन्ह का देखि समुद कै बाढ़ि।
नियर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि॥

इस प्रकार के अनेक चमत्कारपूर्ण, कल्पना-प्रसूत वर्णन जायसी के प्रकृति-काव्य की विशेषता है। परन्तु प्रकृति-संबन्धी ये वर्णन स्वच्छंदवाद (रोमांटिक काव्य) के अन्तर्गत आते हैं जिनमें कवि अतिशयोक्ति से काम लेकर किसी अज्ञात ऐश्वर्य लोक की सृष्टि करता है।

ताल-तलाव वरनि नहिं जाहीं। सूझै वारपार किछु नाहीं
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे
उतरहिं मेघ चढ़ेहिं लेह पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी

× × ×

इस प्रकार के वर्णन पद्मावत में अधिक नहीं है, परन्तु जो हैं वे उसे विशिष्टता प्रदान करते हैं। कुछ वर्णनों में कवि प्रकृति को सजीव चित्रित करता है। मानसरोवर खंड में जब पद्मावति सरोवर में नहाने जाती है तो सरोवर उसके रूप पर मोहित हो जाता है—

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ
पावँ छुवै मकु पावौं ऐहि मिस लहरेहि लेइ

यहाँ स्पष्ट ही पद्मावति साधारण नायिका नहीं है, वह किसी और बड़ी चीज़ का प्रतीक है। जायसी ने उसे मुआरिफ़ (प्रज्ञा) के स्थान पर रखा है जिसे ईश्वर का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं। लक्षणा से उसे परमात्मसत्ता भी मान सकते हैं। इसी तरह पद्मावति के बाल बिखरने पर संसार में अँधेरा हो जाता है। चकई चकवी बिछुड़ जाते हैं। एक चाँद तो आकाश (सरग) में था ही, यह दूसरा चाँद दिन में उग आया, अब मिलना कैसे होगा? वास्तव में पद्मावति के बाल 'माया' का वह आवरण है जिससे ईश्वर (अल्लाह) अपना सौन्दर्य (जलवा) छिपाता है। इस प्रकार के छोटे-छोटे इंगित सारे काव्य में छिपे हुए हैं और कवि उनमें अध्यात्म-संबन्धी बड़ी-बड़ी बातें कह गया है।

नागमती के विरह-वर्णन के संबन्ध में हमने अलग विचार किया है इस विरह-वर्णन का आधार षट्ऋतुवर्णन है जो प्रकृति-सम्बन्धी काव्य का एक अँग है। प्रचीन काव्यों में षटऋतु वर्णन और नखशिख-वर्णन की एक परंपरा चली आती थी। यह परंमरा लोककाव्य से गृहीत हुई थी। जायसी इस परंमरा से परिचित हैं और उन्होंने अपने काव्य में षट्ऋतु-वर्णन और नखशिख-वर्णन की दोनों परम्पराएँ ग्रहण की हैं। इसमें संदेह नहीं हिन्दी षटऋतु-वर्णनों में जायसी का षट्ऋतु-वर्णन अद्वितीय रहेगा। केवल उसी के आधार पर हम जायसी के महाकाव्यत्व को मान लेते हैं।

परंतु उपमानों के रूप में जायसी में प्रकृति-वर्णन बहुत अधिक मात्रा में मिल जाता है। कदाचित् सारे हिन्दी काव्य

में उपमानों के लिए प्रकृति की इतनी खोज किसी कवि ने नहीं की। कुछ उद्धरण कवि के चुके हुए उपमानों की सार्थकता पर प्रकाश डालेंगे—

जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराउँ
आपनि आपनि भाषा लेहिं दई कर नाउँ

जिसने पावस में अमराइयों में झुण्ड के झुण्ड पक्षी बैठे हुए, चहकते हुए देखे हैं, वही इस उपमा की सुन्दरता को जान सकता है। तालावों में काई फटना सबने देखा होगा, परन्तु हृदय की व्यथा वताने के लिए भला किसने इस उपमा क प्रयोग किया है—

कित करमुहें नैन भए, जीउ हरा जेहि बाट
सखा नीर-बिछोह जिमि दरकि-दरकि हिय फाट

हृदय की व्यथा की इतनी सार्थक उपमा और कौन दे सका है! नागमती अपने दुख से दुखी है। इसी से वह कहती है—

काह हँसौ तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहिं मुख बरसै मेह

कहीं-कहीं पर प्रकृति के सुन्दर उपमानों के द्वारा कवि आकाश-पाताल को छान डालता है और इतनी बड़ी वात कहता है कि हमें आश्चर्य होता है। रत्नसेन गजपति से अपने प्रेम की तीव्रता की बात कह रहा है—

सरग सीस, धर धरती, हिया सो पेम समुंद
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सो बुंद

आकाश शीश है, धड़ धरती है, हृदय में जो समुद्र हिलोरें मार रहा है, वह प्रेम है। नेत्र कौड़ी मात्र हैं। वे बूँद-बूँद भर कर इस प्रेम-समुद्र को कैसे उलीच सकेंगे?

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी के प्रकृति-वर्णन के कई रूप हैं :

(१) परिगणन शैली (इसमें वस्तु का नाम कथनमात्र रहता है)

(२) रोमांचक शैली (इसमें वस्तु का अतिशयोक्तिपूर्ण चमत्कारिक वर्णन होता है। साधारण वस्तु को असाधारण और अलौकिक बनाने के लिए इस शैली का प्रयोग हुआ है)

(३) रहस्यवादी शैली (इसमें कवि योग का सूफ़ी-मत के आधार पर कोई प्राकृत रूप खड़ा करता है)

(४) उपमान-शैली (उपमानों के रूप में प्रकृति के अनेक व्यापारों का व्यापक प्रयोग रहता है) इसके कई वर्ग हो सकते हैं :

(क) जहाँ उपमान केवल काव्योपयोगिता की दृष्टि से आये हैं।

(ख) जहाँ उपमान उपदेश देने के लिए या किसी उपदेश को पुष्ट करने के लिए आये हैं।

(ग) नखशिख के प्रसंग में।

(घ) मानवी भावनाओं के वर्णन में।

(५) प्रतीक शैली (इसमें कवि प्रकृति की कुछ विशेष वस्तुओं को प्रतीक के रूप में ग्रहण करता है। सूरज चाँद ; कँवल-भँवरा इत्यादि प्रतीक बराबर पद्मावति और रतनसेन के लिए प्रयोग में आये हैं। जहाँ कवि अभिधार्थ से हटकर एकदम आध्यात्मिक अर्थों को उपस्थित करना चाहता है, वहाँ वह वर्ण्यवस्तु की जगह कोई न कोई प्रतीक रख देता है।

इसमें संदेह नहीं कि जायसी का प्रकृतिकाव्य महत्वपूर्ण है। उनका प्रसिद्ध दोहा है—

कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाइ ।
कबहूँ बेलि फिर पलुहै जो पिउ सींचे आइ ॥

इस दोहे की प्रसिद्धि इसी लिए है कि इनमें प्रकृति के एक बड़े मार्मिक दृश्य को विरह की अभिव्यंजना के लिए ग्रहण कर लिया गया है। मानसरोवर में कमल का खिलना, सरोवर का सूख जाना और फलतः कमलबेलि का मुरझा जाना, प्रियतम का आना और उस कमल-बेलि को सींचना ऐसे चित्र हैं जो कठिन से कठिन हृदय में करुणा का संचार कर देंगे। ऐसे अनुपम चित्र केवल अनुभूत हृदय ही उपस्थित कर सकता था। इसमें संदेह नहीं कि जायसी का सारा काव्य अनुभूति पर खड़ा है। उसमें कवि के विशाल सांसारिक ज्ञान के दर्शन तो होंगे, परंतु पांडित्य के रूप में नहीं। कवि ने जो देखा है, जो अनुभव किया है, हृदय-मन की वह सारी सामग्री कल्पना और भावुकता के तागे में कवि ने पिरो दी है। संसार के किसी काव्य में इस सहृदयता की उपमा नहीं मिलेगी। एक विधर्मी कवि अन्य धर्म के चरित्रों को लेकर इतनी सहानुभूति, प्राणों की इतनी वेदना भरेगा, इसमें संदेह है। इस संदेह से ऊपर उठकर जायसी अमर हो गए हैं। उनका पद्मावत भाषा, भाव, छंद, उपमा-उपमान सब में एकांततः भारतीय है। यह अवश्य है कि रूपक रूप में सूफ़ी-साधना भी इस कथा पर घटित की गई है, परंतु जायसी ने साधना का जो रूप उपस्थित किया है, वह इतना सरल है कि किसी भी धर्म की अपेक्षा नहीं रखता।

साहित्य कोटि

हम पद्मावत के रूपकतत्व और उसके अध्यात्म-पक्ष पर विचार कर चुके। अब हमें उसके साहित्य-पक्ष पर विचार करना है।

सब से पहले हम पद्मावत की साहित्य कोटि की बात लेंगे। पद्ममावत महाकाव्य है, या खंडकाव्य—उसकी साहित्य कोटि क्या है, यह विचारणीय है।

जैसा हम कह चुके हैं, कथा-काव्यों की एक परंपरा अपभ्रंश-काल से बराबर चली आ रही थी। जैन साहित्य के 'रासा' ग्रंथ और चारणों के 'रासो' (ऐतिहासिक पुरुषों के इतिवृत्त) को हम शास्त्रीय परिभाषा में महाकाव्य नहीं कह सकते। उन्हें हम कथा-काव्य भर कह सकते हैं। कथा-काव्य छोटे हों, या बड़े उनमें कथा की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती चलती है। पात्रों की रूपरेखाएँ विशेष स्पष्ट नहीं होतीं। केवल कथा-रस ही लक्ष्य होता है। न हम नायक से उदात्त चरित्र की आशा रखते हैं, न सर्गों का भेद, न छंदों की विभिन्नता। जान पड़ता है, सूफ़ी कवियों से पहले अवधी में इस प्रकार के काव्यों की परंपरा चल रही थी। १४वीं शताब्दी से इस तरह के कथा-काव्यों की परंपरा बराबर मिलती है जिन पर सूफ़ी सिद्धांतों का आरोप किया गया है। इन सूफ़ी कथाकाव्यों के रचयिता मुसलमान सूफ़ी थे और वे मसनवियों की साहित्यिक परंपरा से भी परिचित थे। इस मसनवी शैली में ५ या ७ बन्दों के बाद एक 'बैत' रहता था। इसी के आधार पर अवधी सूफ़ी काव्यों ने ५ या ७ अर्द्धालियों के बाद एक-एक दोहे या सोरठे की योजना की। मसनवी में ख़ुदा, पैग़म्बर और शाहेवक्त की प्रशंसा से काव्य का आरंभ होता था। अवधी सूफ़ी कवियों ने अपने काव्य में पहले-पहल इन्हीं विषयों को लिया। परंतु इस थोड़े से साम्य के अतिरिक्त मसनवियों और इन सूफ़ी कथा-काव्यों में कोई साम्य नहीं मिला। वे निश्चय ही उन प्रेम-कथा-काव्यों की परंपरा में आते हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश में जन-प्रसिद्धि पा चुके थे। इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रेमलीला को वर्ण्य

विषय बनाया जा चुका था। 'वीसलदेव रासो' और 'कुतुबुदीन और साहिबा की कथा' इसके प्रमाण हैं। अतः 'पद्मावत' (१५४०) की साहित्य कोटि कथा-काव्य की ही है। पद्मावत की कथा अत्यंत वृहद है। उसमें महाकाव्य के अनेक अंग मिल जाते हैं जिनका वर्णन साहित्यदर्पण में हुआ है। परंतु यह मिलना आकस्मिक है। वास्तव में वृहद कथा से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। इसी से शास्त्रीय परिभाषा में 'पद्मावत' महाकाव्य नहीं है। परंतु जायसी कदाचित् उसे महाकाव्य की कोटि देना भी नहीं चाहते थे। अतः यदि जायसी के ग्रंथ में महाकाव्य के सारे लक्षण मिल जाते हैं तो वह कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है।

कथा-सौष्ठव

'पद्मावत' की कथा को हमने अन्यत्र दिया है और उसकी ऐतिहासिकता पर भी विचार किया है। उसके रूपक-तत्व पर भी हमने विशद रूप से लिखा है। यहाँ साहित्य की दृष्टि से उस पर विचार करना है।

जैसा हमने पहले कहा है, 'पद्मावत' में दो कथायें हैं जो स्वतंत्र रूप से चल सकती थीं। इन्हें हम क्रमशः रत्नसेन-पद्मावती की कथा और पद्मावती-अलाउद्दीन की कथा कह सकते हैं। कथा-सौष्ठव को इससे हानि पहुँची है। दो स्पष्ट कथायें एक कथा में गूँथ कर जायसी ने दोनों के साथ अन्याय किया है, परंतु जायसी का आधार साहित्यशास्त्र नहीं था। लोककथा के रूप में कथा जिस प्रकार चल रही थी, उस प्रकार ही जायसी ने उसे ग्रहण कर लिया।

साहित्यशास्त्र की दृष्टि से कथा में पंचसंधियाँ मिल सकती हैं। कम से कम पूर्वार्द्ध की कथा इस दृष्टि से अधिक पुष्ट है।

उसमें स्वतः ही नाटकीय पंचसंधियों की स्थापना हो गई है, परंतु उत्तरार्द्ध की कथा केवल जनकथा या इतिहास-कथा की पुनरुक्ति मात्र है। अतः उसमें सौष्ठव की ओर कवि प्रयत्नशील नहीं हो सका है।

इसके अतिरिक्त कथा की द्वैत स्थिति भी उसके सौष्ठव में बाधा डालती है। कवि को कथा और रूपक को साथ साथ लेकर चलना है। इसका अर्थ यह है कि केवल कथा-रस की पुष्टि के लिए वह स्वतंत्र नहीं है। बीच-बीच में कवि को बड़े-बड़े प्रकरण केवल इसलिए रखना पड़े हैं कि उनसे उसका आध्यात्मिक पक्ष पुष्ट होता है। कथा के स्वाभाविक प्रवाह में ये बाधा डालते हैं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि पद्मावत की कथा-वस्तु संपूर्ण रूप से संगठित नहीं है। पहले तो कथा के केन्द्र दो हैं। ३१वें खंड के बाद एक कथा समाप्त हो जाती है और दूसरी कथा चलने लगती है। दूसरे अध्यात्मपक्ष को घटाने के कारण कथा के संगठन में शिथिलता आ गई है। अनेक ऐसे प्रसंगों का समावेश कवि को करना पड़ा है जो कथा के संगठन की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं।

रस

'पद्मावत' मूलतः प्रेमकथा है अतः शृङ्गार रस के संयोग और वियोग (विप्रलंभ) पक्ष का समावेश उसमें विशद रीति से हुआ है। परंतु शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी समावेश कथा-प्रसंगों के कारण हो गया है। ये गौण रस करुण, वात्सल्य, वीर, शांत और वीभत्स हैं। वीर, शांत और वीभत्स का संबंध मुख्यतः उत्तरार्द्ध के युद्धों से हैं। करुण रस जोगी-खण्ड और सतीखण्ड में व्यापक रूप से निरूपित हुआ है। वात्सल्य और शांत के छोटे-छोटे प्रसंग अनेक बार आते हैं।

(क) शृङ्गार का संयोग-पक्ष

पहले हम शृङ्गार रस को लेंगे। उसमें भी पहले संयोग-पक्ष को। 'पद्मावती' की कथा रत्नसेन, नागमती और पद्मावती को लेकर चलती है। संयोग-शृङ्गार के लिए नागमती और पद्मावती दोनों महत्वपूर्ण हैं। साधना की दृष्टि से नागमती और पद्मावती में चाहे जो अंतर हो, साहित्य की दृष्टि से कोई अंतर नहीं। दोनों रत्नसेन की प्रिय हैं, यद्यपि नागमती को प्रिय-वियोग का दुःख भी उठाना पड़ता है। इसी से कवि पद्मावति और नागमती के संयोग-शृङ्गार में अन्तर नहीं कर सका है। वास्तव में संयोग-पक्ष सूफियों को उतना प्रिय नहीं है, जितना वियोग-पक्ष। इसीसे संयोग-चित्रण में वह विशेष सफल नहीं हो पाते। इससे उनके आध्यात्मिक मंतव्य की भी विशेष पुष्टि नहीं होती। जीव-ब्रह्म के महामिलन को संतों और सिद्धों ने स्त्री-पुरुष के मिलन के रूपकों द्वारा चित्रित किया है। उस महामिलन का आनंद चाहे भिन्न कोटि का हो, इसमें संदेह नहीं कि वह नर-नारी (पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका) के मिलनानंद से प्रकार-भेद और तीव्रता में भिन्न नहीं है। पद्मावती और रत्नसेन जीव-ब्रह्म के प्रतीक नहीं हैं, जैसा कुछ विद्वानों का आग्रह है। पद्मावती प्रज्ञा है—इसी के द्वारा परमात्म की झलक मिल सकती है—यह वह दर्पण है जिसमें परमात्म-तत्व की झाँई पड़ती है। रत्नसेन साधक (सालिक) है। परंतु साधक के लिए प्रज्ञा की प्राप्ति भी कोई कम आनन्दप्रद नहीं है। इसी से जायसी इस मिलनानन्द का भी विशद वर्णन करते हैं। परंतु रूपक केवल पद्मावती के सम्बन्ध में ही ठीक उतरता है। नागमती के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। नागमती तो दुनिया-धन्धा है। परंतु दुनिया-धन्धा में भी तो मनुष्य पहले उसी तीव्रता से लिप्त रहता है।

फिर सूफ़ियों को तो प्रेम चाहिये। जहाँ प्रेम मिला, संयोग-वियोग की परिस्थितियाँ आईं, वहीं वह पारलौकिक प्रेम का अनुभव करने लगे।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि जायसी में संयोग और वियोग दोनों प्रेम-पक्षों के सम्बन्ध में सुन्दर-सुन्दर चित्रण उपस्थित हैं। रत्नसेन बरात सजा कर आ रहा है। पद्मावति के हुलास का ठिकाना नहीं--

हुलसे नैन दरस मदमाते। हुलसे अधर रंग रस राते
हुलसा बदन ओप रवि पाई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई
हुलसे कुच कसनी बँद टूटे। हुलसी भुजा, वलय कर फूटे
हुलसी रंक कि रावन राजू। राम लखन पर साजहिं आजू
आजु चाँद घर आवा सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू
आजु कटक जोरा है कामू। आजु बिरह सौं होइ संग्रामू

अंग अंग सब हुलसे कोइ कतहूँ न समाइ
ठावहिं ठांव बिमोही गइ मुरछा तन आइ

कवि जब रत्नसेन-पद्मावति की सुहागरात की अयोजना करता है तो वह दंपति को महल के सातवें खंड में ले जाता है। कदाचित् सात खंडों से सूफ़ियों के सात मुक़ामात निर्दिष्ट हैं। अंतिम खंड (मंज़िल) में पहुँच कर ही प्रिय की झाँकी मिलती है। एक दूसरी तरह से भी कवि इस मिलन की अलौकिकता की व्यंजना करता है। साधना की सूक्ष्मता और कोमलता का प्रतीक मिलन-शैया है—

अति सुकुवाँर सेज सो डासी छुवै न पावै कोइ
देखत नवै खिनहि खिन पाँव धरत कस होइ

इन पंक्तियों में पद्मावति के पछतावे से अधिक साधक का पश्चत्ताप सुन पड़ता है।

बारि बैस गइ प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी
जोबन-गरब न मैं किछु चेता। नेह न जानौं साँवँ कि सेता

अध्यात्म साधक के मन में भी कुछ इसी तरह की चिन्ता होती है—

हौं बारी औ दुलहिनि पीव तरुन सह तेज
ना जानौं होइहि चढ़त कंत के सेज

उधर परमात्मसत्ता (या प्रज्ञा) भी एकदम अलिप्त नहीं रह सकती। पद्मावति रत्नसेन से मिलने के समय अपनी विरह-व्यथा की व्यंजना करती है—

बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातकि भएउँ कहत 'पिउ पिऊ'
जरिउँ बिरह जस दीपक-बाती। पंथ जोहत भइ सीप सेवाती
डाढ़ि डाढ़ि जिमि कोइल भई। भइउँ चकोरि, नींद निसि गई
तोरे पेम पेम मोहिं भएऊ। राता हेम अगिनि जिमि तएऊ
हीरा दिये जौ सूर उदोती। नाहिंत कित पाहन कित जोती
रबि परगासे कँवल बिगासा। नाहिंत कित मधुकर, कित बासा

इस प्रकार के वर्णन दोनों पक्षों पर घटित होते हैं। लौकिक तो वे हैं ही, आध्यात्मिक की वे सफलता-पूर्वक व्यंजना कर सकते हैं। यहाँ तक तो ठीक, परन्तु जब कवि रति-संग्राम का वर्णन करने लगता है, तो आलोचक कठिनाई में पड़ जाता है। इसकी व्याख्या किस प्रकार करे? इसे तो केवल लौकिक पक्ष में घटाया जा सकता है। साथ ही इससे कवि की रुचि की निकृष्टता का भी पता चलता है। कवि कहता है—

भएउ जूझ जस रावन रामा। सेज बिधाँसि बिरह संग्रामा
लीन्ह लंक, कंचन-गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा
औ' जोबन मैमन्त बिधाँसा। बिचला बिरह जीउ जो नासा

टूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी माँग, भंग भए केसा
कंचुकि चूर, चूर भइ तानी। टूटे हार, मोति छहरानी
बारी, टाँड सलोनी टूटी। बाहू कंगन कलाई फूटी
चंदन अंग छूट अस भेंटी। वेसरि टूटि, तिलक गा मेटी
पिउ पिउ करत जो सूखि धनि चातक की भाँति
परी सो बूँद सीप जनु, मोती हो सुख-सांति

यहाँ 'मैमंत' शब्द विचारणीय है। अर्थ है 'अहंता', 'अहंकार'। इस अंतिम मिलन में साधक के अहंकार का नाश हो जाता है—यही कवि बतला रहा है। परन्तु चित्रण इतना स्थूल हो गया है कि सूक्ष्म स्वर उसमें दब गये हैं। कवि यहाँ सुराही-प्याले का भी उल्लेख करता है। सूफ़ियों में मदपान ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक है, इसी से सुहागरात के समय कवि ने इनकी योजना की है। वास्तव में प्रेम-सुरा के इस वर्णन में परोक्ष प्रेम ही इंगित है।

सुनु, धनि ! प्रेम सुरा के पिये। मरन जियन डर रह न हिए
जा कहँ सोइ बार एक लाहा। रहे न ओहि बिनु, ओही चाहा
अरथ दरब सब देइ बहाई। की सब जाहु, न जाइ पियाई
रातहु दिवस रहे रस-भीजा। लाभ न देख, न देखै छीजा

अन्त में महामिलन के इस चित्र को देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे—

सब निसि सेज मिला ससि सुरू। हार चीर बलया भए चूरू
सो धनि पान, चून भइ चोली। रंग-रंगोलि निरंग यह भोली
अलक सुरंगिनि हृदय परी। नारँग छुव नागिनि विष भरी
लरी मुरी हिय-हार लपेटी। सुरसरि जनु कालिंदी भेंटी
जनु प्रयाग अरइल बिच मिली। सोभित बेनी रोमावली
नाभी लाभु पुनिन कै कासी-कुण्ड कहाव
देवता करहिं कलप सिर आपहु दोष न लाव

इस प्रकार के गर्हित शृङ्गार-प्रसंगों का अर्थ क्या हो सकता है? हम देखते हैं कि सिद्ध, संत और वैष्णव काव्य में इसी प्रकार के स्थूल संयोग-चित्र मिलेंगे। इनसे अलौकिक प्रेम-भाव की तीव्रता ही व्यंजित है। हमारे धर्म, साहित्य और काव्य में रति-भाव का अन्यतम चित्रण वर्जित नहीं है। काम भी मनुष्य का एक लक्ष्य है। धर्म, अर्थ और मोक्ष की तरह वह भी उपादेय है। भारतीय धर्म-साधकों ने 'काम' को भी धर्म और मोक्ष की साधना का माध्यम बना दिया है। कदाचित् यह तंत्र-साधना का प्रभाव हो या एतद्देशी मूल द्राविड़ साधना ने इसे जन्म दिया हो। जगन्नाथजी के मंदिर पर चौरासी आसनों के चित्र आज चाहे जितने ही निंद्य समझे जायें, वे केवल कामोद्दीपक प्रसंग-मात्र नहीं हैं। कलाकार ने इन रूप रेखाओं को कुछ ऐसा तोड़-मोड़ दिया है कि ये चित्र मानव के क्रीड़ा-विलास नहीं रह जाते। काव्य में कालीदास, जयदेव, विद्यापति और सूर इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। कबीर के काव्य को हम क्यों छोड़ दें? उसमें भी अध्यात्म-पक्ष को लौकिक रति-प्रसंग से ही सहारा मिला है। आज भी रहस्यवादी कवि 'जुही की कली' और पवन अथवा शेफाली और शिशिर-बिंदु की क्रीड़ा से जीव-ब्रह्म के मिलनानंद की व्यंजना करते हैं। इस दृष्टि से जायसी का स्थूल मिलन-चित्र विशेष लांछना की वस्तु नहीं रह जाता। सारे प्रसंग के अन्त में कवि स्पष्ट रूप से उसे अध्यात्म प्रश्न पर घटा देता है —

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओही देखहुँ ठाँवहिं ठाऊँ
जौ जिउ में तौ उहै पियारा। तन मन सौं नहिं होइ किनारा
नैन माँह है उहै समाना। देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना॥

यह तो अध्यात्म ही हुआ। प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँच कर सारा जग ही 'सियाराममय' हो जाता है। कवि ने पग-पग पर रत्नसेन

और पद्मावती को दृष्टि से ओझल कर परमार्थिक तत्त्वों के विकास की चेष्टा की है। इसी से वह पद्मावति रतनसेन को उनके नामों से याद न कर कँवल-सूर, मालति-भँवर, सूरज-चाँद जैसे प्रतीकों के नाम से याद करता है। लक्ष्मी-समुद्र खण्ड में तूफ़ान के बाद बिछुड़े हुए पद्मावती और रत्नसेन मिलते हैं—

लेइ सो आइ पद्मावति पासा। पानि पियावा मरत पिआसा
पानी पिया कँवल जस तपा। निकसा सुरुज समुद महँ छपा
जानहु सूर कीन्ह परगासू। दिन बहुरा, भा कँवल बिगासू
कँवल जो बिहँसि सूर-मुख दरसा। सूरुज कँवल दिस्टि सौं परसा
लोचन कँवल सिरीमुख सूरू। भएउ अनंद दुहूँ रस मुरू
मालति देखि भँवरि गा भूली। भँवर देखि मालति बन फूली
देखा दरस, भए एक पासा। वह ओहि के वह ओहि के आसा
कंचन दाहि दीन्ह जनु जीऊ। ऊआ सूर, छूटिगा सीऊ

पांय परी धनि पीउ के, नैनन्ह सौं रज मेट
अचरज भएउ सबन्ह कहँ यह ससि कँवलहि भेंट

प्रिय के प्रति इस साधारण लौकिक भाव में क्या अध्यात्म भाव भी सन्निहित नहीं है? रत्नसेन दिल्ली से लौटा है। पद्मावती कहती है—

'पूजा कौनि देउँ तुम्ह राजा। सबै तुम्हार, आव मोहि लाजा
तन मन जीवन आरति करऊँ। जीव काढ़ि नेवछावरि धरऊँ
पंथ पूरि कै दिस्टि बिछावौं। तुम पग धरहु, सीस मैं लावौं
पांय निहारत पलकन मारौं। बरूनी सेंति चरन रज झारौं
छोड़ि गएउ सरवर महँ मोही। सरवर सूखि गएउ बिनु तोही
केलि जो करत हँस उड़ि गयऊ। दिनिअर निपट सो बैरी भयऊ

सच तो यह है, अध्यात्म-परक चित्रों से पद्मावत भरा पड़ा

है। यही संयोग और वियोग के चित्र पद्मावत की सब से बड़ी विशेषता है।

वियोग शृङ्गार का तो पद्मावत में और भी विशद चित्रण है। नागमती और पद्मावती दोनों के विरह-चित्रण पद्मावत में मिलेंगे। दोनों लगभग एक प्रकार के हैं। कोई विशेष भेद नहीं है। कवि प्रेम-मात्र में भेद नहीं करता। प्रेम चाहे लौकिक हो, या पारमार्थिक, प्रकार-भेद हो सकता है, तत्त्व-भेद नहीं। पद्मावत के सत्तावन खण्डों में पंद्रह खण्ड नागमती और पद्मावती के वियोग (विप्रलंभ) का चित्रण करते हैं। केवल इसी ऊपरी बात से वियोग-प्रसंगों का महत्व ...दित हो जाता है। नागमती के वियोग और संदेश जैसी चीज़ तो सारे हिंदी काव्य में नहीं मिलेगी। केवल इन्हीं दो खण्डों को लिखकर जायसी अमर हो जाते। एक-एक दोहा महाविरह का अगाध समुद्र है। नागमती कहती है—

सारस जोरी कौन हरि मारि बियाधा लीन्ह
झुरि झुरि हौं पींजर भई विरह काल मोहिं दीन
जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्व
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व
परवत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख
किमि कै भेंटौं कंत तुम्ह, ना मोहिं पाँव न पाँख

भादों की वीथिका में नागमती का विरह-चित्रण देखिये—

भा भादों दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी
मन्दिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिर डसा
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी
चमक बीजु, घन गरजि तरासा। विरह-काल होइ जीउ गरासा
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं अस ओरी

धनि सूखे भरे भादों माहाँ। अबहुँ न आएन्ह सींचेन्हि नाहा
पुरवा लागि भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी
थल जल भरे अपूर सब, धरति गगन मिलि एक
धनि जोबन अवगाह महँ दे बूड़त, पिउ! टेक

क्वाँर का महीना आया—

लाग कुवार, नीर जग घटा। अबहूँ आउ, कंत! तन लटा
तोहिं देखे, पिउ! पलुहै कया। उतरा चीतु, बहुरि करु मया
चित्रा मित्र लीन कर आवा। पपिहा पीउ पुकारत पावा
उआ अगस्त, हस्ति घन गाजा। तुरम पलानि चढ़े रन राजा
स्वाति बूँद चातक मुख परे। समद सीप मोती सब भरे
सरवर सँवरि हँस चलि आये। सारस कुरलरि, खँजन देखाये
भा परगास, काँस बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहि भूले
बिरह हस्ति तन सालै, घाम करै चित चूर
बेगि आइ, पिउ! बाजहु, गाजहु होइ सदूर

फिर कातिक आया—

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल, हौं बिरहै जारी
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ घटै सब धरति अकासा
तन मन सेज करै अगि दाहू। सब कहँ चंद भएउ मोहि राहू
चहूँ खण्ड लागै अँधियारा। जौं घर नाहीं कंत पियारा
अबहूँ, निठुर! आउ एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा
सखि झूमक गावैं अँग मोरी। हौं झुराव बिछुरी मोरी जोरी
जेहि घर पिउ सो मनोरथ पूजा। मो कहँ बिरह सपति दुख-दूजा
सखि मानैं तिउहार सब गाइ, दिवारी खेलि
हौं का गावौं कंत बिनु, रही छार सिर मेलि

अगहन में तो दिन ही काटना कठिन हो गया—

अगहन दिवस घटा, निसि बाढ़ी । दूभर रैनि जाइ, किमि गाढ़ी

× × ×

काँपै हिया जनावै सीऊ । तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ
घर-घर चीर रचे सब काहू । मोर रूप-रँग लेइगा नाहू
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई । अबहूँ फिरै, फिरै रँग सोई
वज्र अगिनि विरहिन हिय जारा । सुलुगि सुलुगि दगधै होइ छारा
यह दुख दगध न जानै कंतू । जोवन जनम करै भसमंतू
पीउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुँवा हम्ह लाग

पूस का चित्र देखिये—

पूस जाड़ थर थर तन काँपा । सूरुज जाइ लंका, दिसि चाँपा

× × ×

कंत कहाँ लागौं ओहि हियरे ? पन्थ अपार, सूझ नहिं नियरे
सौर सपेती आवै जूड़ी । जानहु सेज हिवचल बूड़ी
चकई निसि बिछुरै दिन मिला । हौं दिन राति विरह कोकिला
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी । कैसे जियै बिछोही पखी
विरह सचान भयउ तन जाड़ा । जियत खाइ औ मुए न छाँड़ा
रकत ढुरा माँसू गरा, हाड़ भए सब संख
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख

माघ आया—

लागेउ माघ, परै अब पाला । विरहा काल भयउ जड़ काला
पहल-पहल तन रूई झाँपै । हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै
आइ सूर होइ तप, पिय आहा । तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा
एहि माह उपजै रस मूलू । तूँ सो भौंर, मोर जोवन फूलू
नैन चुवहिं जस महवट नीरू । तोहि बिनु अंग लाग सर-चीरू
टप-टप बूँद परहिं जस ओला । विरह पवन जस मारै झोला

केहि क सिंगार को, पहरु परोरा। गीउ न हार, रही होइ डोरा
तुम बिनु काँपै धनि हिया, तन तिन उर भा डोल
तेहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल

फागुन के महीनों की ये पंक्तियाँ तो जायसी के समय में अवध के घर-घर में प्रसिद्ध हो गई थीं—

फागुन पवन झकोरा बहा। चौगन सीउ जाइ नहिं सहा
तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा
करहिं वनस्पति हिए हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहिं तन लाइ दीन्ह जस होरी
जौ पै पीउ जरत अस पावा। जरत मरत मोहिं रोष न आवा
राति दिवस बस यह जिउ मोरे। लगौं निहोर कंत अब तोरे
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उड़ाव'
मकु तोहि मारग उड़ि परै कंत धरै जेहि पाव

चैत देखिये—

चैत वसंता होइ धमारी। मोहिं लेखे संसार उजारी
बौरे आम फरै अब लागे। अबहुँ आउ, घर कंत सभागे
सहस भाव फूलीं बनसपती। मधुकर घूमहिं सँवरि मालती
मो कहँ फूल भए सब काँटे। दिस्टि परत जस लागहिं चाँटे
फरि जोबन भए नारँग साखा। सुआ-बिरह अब जाइ न राखा
घिरनि परेवा होइ, पिउ आउ बेगि परु टूटि
नारि पराए हाथ है, तोहि बिनु पाव न छूटि

वैशाख और जेठ की तपन में यह विरह-व्यथा और भी अधिक ज्वाला को प्राप्त होती है—

भा वैसाख तपनि अति लागी। चोआ चीर चँदन भा आगी
सूरज जरत हिवंचल ताका। बिरह-बजागि सौंह रथ हांका
जरत बजागिनि करु, पिउ छाहाँ। आइ बुझाउ, अँगारह माहाँ

तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तें करु फुलवारी
कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै जो पिउ सींचै आइ

जेठ जरत जग, चलै लुवारा। उठहिं बवण्डर, परहिं अँगारा
अधजर भइउँ, माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काल होइ भूखा

× × ×

गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रबि सहि न सकहिं वह आगि
मुहम्मद सती सराहिये, जरै जो अस पिउ लागि

नागमती का यह विरह-वर्णन भले ही ऊहापोहात्मक हो, भले ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर वह पूरा नहीं उतरे, परंतु इसमें ऐसी-ऐसी उक्तियाँ हैं जो 'नावक के तीर' की तरह मन में चुभ जाती है। कोई पक्षी नागमती की बात रत्नसेन तक कैसे ले जाय—

जेहि पंछी के नियर होइ कहै बिरह कै बात
सोई पंछी जाइ जरि, तरिवर होइ निरवात

रत्नसेन का वह देश भी ऐसा कैसा है जहाँ पावस नहीं, वसंत नहीं, कोकिल नहीं, पपीहा नहीं—

नहिं पावस ओहि देसरा, नहि हेवंत बसन्त
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत

अंत में आधी रात में कोई पंछी बोल उठता है। नागमती को रोते-कलपते देख वह पूछता है—

तू फिर फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी

नागमती उससे प्रिय का संदेश कहती है—

पदमावति सौं कहेउ बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम
तू घर घरनि भई पिउ-हरता। मो कहँ दीन्हेसि जय औ बरता

हमहूँ बिग्रहि सँग ओहि पीऊ। आपहु पाइ जानु पर-जीऊ
अबहु मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा
मोहि भोग सौ काज न, बारी। सौह दीठि कै चाहनहारी
सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ
आनि मिलाव एक बेर, तीर पाँय मोर माथ

नागमती सपत्नी से ईर्ष्या भी नहीं रखेगी—इतना बड़ा बलिदान भारतीय नारी ही कर सकती है। जायसी ने मुसलमान होते हुए भी युग-युग लांछित भारतीय नारी की हृदय की बात कही, इतनी सहानुभूति से उसे समझा, इसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं। सचमुच, नागमती हिंदी काव्य की निरुपमेय पात्री है। उसने भारतीय नारी का पूर्णतः प्रतिनिधित्व किया है।

पद्मावती के काम-विकार का एक चित्र देखिये। अभी उसे रत्नसेन का परिचय नहीं मिला है—

नींद न परै रैनि जौ आवा। सेज केवंच जानु कोइ लावा
दहै चंद औ' चंदन चीरू। दगध करै तन बिरह गंभीरू
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी। तिल तिल भर जुग जुग जिम गाढ़ी
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तहं रहै ओनाई
पुनि धनि सिंघ डरै है लागै। ऐसेहि बिथा रैनि सब जागै
से धनि बिरह पतंग भइ, जरा चहै तेहि दीप
कंत न आव भिरिंग होइ, का चंदन तन लीप

रत्नसेन से परिचय होने पर स्पष्ट रूप से वह विरहिणी हो जाती है। अनेक भारतीय परंपरा में स्वीकृत उपमानों के द्वारा कवि पद्मावती की विरह-व्यथा का वर्णन करता है—

बिनु जल मीन तलफ जल लीऊ। चातकि भइउं कहत पिउ पिऊ
जारिउँ बिरह जस दीपक बाती। पंथ जोहत भइ सीप सेवती
डाढ़ि डाढ़ि जिमि कोइल भई। भइउं चकोर नींद निसी गई

परन्तु सूफ़ी जायसी जगह-जगह परोक्ष प्रेम इंगित करने से नहीं चूकते। पद्मावती-रत्नसेन की कथा उनके लिए उस परमात्मा के प्रेम की कथा है जो काया (देह) में निवास करता है, जो पुतली की तरह आँख में समाया हुआ है। जायसी इस बात को पाठक के सामने रखना भूलते नहीं। वह यह नहीं चाहते कि लोग उनकी कहानी को लोककथा मात्र समझ लें। कथा से बड़ी—बहुत बड़ी—चीज़ वह पाठक को देना चाहते हैं—

काया उदधि चितव पिय पाहाँ। देखौं रतन मो हिरद माँहा
जनहुँ आहि दरपन मोर हीया। तहि महँ दरस दिखावै पीया
नैन नियर पहुँचत सुठि दूरी। अब तेहि लागि मरौं मैं झूरी
पिउ हिरदय महँ, भेंट न होही। कोरे मिलाव कहौं केहि रोई ?

साथी आथि निआथि जो सकै साथ निरबाहि
जो जिउ जारे पिउ मिलै भेंटु रे जिउ जरि जाहिं

इस प्रकार के गहनतम वेदनात्मक भावों से नागमती और पद्मावती के विरह-वर्णन भरे पड़े हैं। प्रेम के उभय पक्ष (संयोग और विप्रलंभ) सूफ़ी साधकों के लिए साधना थे। वियोग में साधक 'प्रेम की पीर' की अनुभूति को जाग्रत करता था और 'उस' के विरह में इसी तरह पागल रहना चाहता था जैसे पद्मावती के विरह में रत्नसेन। संयोग में साधक ब्रह्म से कल्पनात्मक मिलन का आनंद वर्णन करता था। इसी से पद्मावत की प्रेम-मिलन और विरह की कोई भी उक्ति ऐसी नहीं जिस पर कवि की स्वानुभूति की छाया न हो। नागमती और पद्मावती प्रकारान्तर से सूफ़ी जायसी का प्रेमाकुल अंतर है। इसी तरह रत्नसेन में चाहे प्रतीक रूप में कुछ हो, उसका प्रेमी व्यक्तित्व स्वयं कवि की रहस्यमयी साधना ने गढ़ा है। इस प्रकार पद्मावत केवल कथा-काव्य न रहकर साधना-

ग्रंथ रह जाता है। कृष्णभक्ति की साधना जिस प्रकार 'सूरसागर' में समाविष्ट है, तुलसी की रामभक्ति की साधना जैसे 'रामचरितमानस' की पंक्ति-पंक्ति में घुल गई, उसी तरह जायसी की प्रेम की साधना 'पद्मावत' के इन तीन पात्रों के भीतर से जागरूक है। तीनों ग्रंथ कथा-काव्य हैं, परंतु यदि सूरसागर और रामचरितमानस कथा से अधिक साधना (कवि की व्यक्तिगत निष्ठा) को प्रगट करते हैं, तो इस जायसी के पद्मावत को भी केवल मात्र कथा-काव्य कह कर फूँक से उड़ा नहीं सकते।

इस प्रकार पद्मावत में व्यापक रूप से शृङ्गार की प्रतिष्ठा है। यह रस एक ही साथ लौकिक और अलौकिक है। कथा में जो रतिभाव है, वही साधना में माधुर्य (अध्यात्म) भाव परंतु शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का निरूपण भी पद्मावत में हुआ है। करुण, वात्सल्य, वीर, शांत और वीभत्स के अनेक प्रसंग कथा-प्रसंग के कारण ग्रन्थ में आ गये हैं। जायसी इन सभी रसों के निरूपण में सफल है। शृङ्गार के बाद करुण ही ऐसा रस है जिसमें जायसी की सब से अधिक आसक्ति है। विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत इस रस का सुन्दर निरूपण हुआ है। करुण रस के दो दृश्य देखिये। रतनसेन चित्तौड़गढ़ से विदा हो रहा है—

रोवत माय, न बहुरत बारा। रतन चला, घर भा अँधियारा
बार बार जो राजहिं रता। सो लै चला, सुआ परवता
रोवहिं रानी तजहिं पराना। नोचहिं बार, करहिं खरिहाना
चूरहिं गिउ-अभरन, उर हारा। अब का पर हम करब सिंगारा
जा कहँ कहहिँ रहसि कै पीऊ। सोइ चला, काकर यह जीऊ
मरै चहहिं, पै मरै न पवहिं। उठै आगि, सब लोग बुझावहिं

× × ×

घरी एक सुठि भएउ अँदोरा। पुनि पाछे बीता होइ रोरा

टूटे मन नौ मोती, फूटे दस मन कांच है
लीन्ह समेट अब अभरन, होइगा दुख कर नाच

पद्मावति सिंहल से विदा हो रही है—

रोवहिं मातु पिता औ' भाई। कोउ न टेक जो कंत चलाई
रोवहिं स नैहर सिंघला। लेइ बजाइ कै राजा चला
तजा राज रावन, का केहू ? छोड़ा लंक विभीषण लेहू
भरी सखी सब भेंटत फेरा। अंत कंत सौ भएउ गुटेरा

× × ×

कोउ काहू कर नाहिं निआना। मया मोह बाँधा अरुधाना

कंचन कया सो रानी रहा न तोला माँसु।
कंत कसौटी घालि कै चूरा गढ़े कि हाँसु॥

वात्सल्य का निरूपण मुख्यतः गोरा-बादल के प्रसंग में है। युद्ध में जाते समय बादल की माँ बादल के संबंध में चिंता करती है—

बादल केरि जसोवै माया। आइ गहेसि बादल कर माया
बादलराम ! मोर तुइ बारा। का जानसि कस होई जुझारा

जहाँ दलपती दलि मरहिं तहाँ तोर का काज।
आजु गवन तोर आवै, बैठि मातु सुखराज॥

परंतु वीर बालक गर्व के साथ कहता है—

मातु, न जानसि बादल आदि। हौं बादला सिंह रनवादी

आगे के प्रसंगों में कवि ने गोरा-बादल के वीरत्व का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। यद्यपि यह वर्णन उत्प्रेक्षाओं से भरा हुआ है, अतः काल्पनिक है, तथापि चारण-काव्य की परम्परा से वह भोगा सिद्ध है; अतः अभिनंदनीय है। गोरा की एक गर्वोक्ति देखिये—

हौं कहिए धौलागिरि गोरा। टरौं न टारे, अंग न मोरा
सोंहिल जैसा गगन उपराहीं। मेघ-घटा मोहि देखि बिलाहीं
सहसौं सीस सेस सब लेखौं। सहसौ नैन इन्द्र सम लेखौं
चारिउ भुजा चतुरभुज आजू। कंस न रहा और को साजू
हौं होइ भीम आजु रन गाजा। पाछे घलि डुंगवै राजा
होइ हनुवँत जमकातर ठाहौं। आजु स्वामि साँकरे निबाहौं

होइ नल नील आजु हौं देहुं समुद महँ मेंड़।
कटक साह कर टेकौं, होइ सुमेरु, रन बेंड॥

शांतरस का आश्रय भाव निर्वेद है। स्थान-स्थान पर वैराग्य की उक्तियों में इस रस का आभास मिलता है। वीर रस के प्रसंगों में कुछ पंक्तियाँ वीभत्स की भी आ जाती हैं। वस्तुतः जायसी के पद्मावत का प्रधान रस शृङ्गार है। उसकी विशेषता यह है कि वह उभयनिष्ठ है। एक ओर वह पद्मावत, नागमती और रतनसेन के मिलन-वियोग को चित्रित करता है, दूसरी ओर वह सूफ़ी सालिक की हृदय-स्वच्छता और 'क़ल्ब' (प्रज्ञा) की प्राप्ति की प्रक्रियाओं को स्पष्ट करता है। वास्तव में लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रेमपक्षी की दृष्टि से पद्मावत अत्यंत उच्चकोटि की रचना है और संसार के सर्वश्रेष्ठ प्रेमकथा-काव्यों में उसका स्थान होगा। उसमें बहुत कुछ नीरस है, बहुत कुछ वस्तु-निरूपण या नामकथन-मात्र है, बहुत कुछ प्राचीन साहित्य-परंपरा से उधार लिया गया है, फिर बहुत कुछ कुरुचि-वर्द्धक है, परंतु इस पर भी प्रेम, मिलन, विरह और प्रेमी की निष्ठा के संबंध में न इतनी मार्मिक उक्तियाँ अन्य स्थान पर मिलेंगी, न इतना सुन्दर चित्रण। शृंगार रस की दृष्टि सूरसागर के बाद पद्मावत का ही नाम लिया जायगा।

वर्णन

ऊपर हमने नारी-सौन्दर्य-वर्णन और प्राकृतिक वर्णन पर विचार किया है। अब हम सामान्य वर्णन की बात लेंगे। कथा-काव्य में वर्णन की ही प्रधानता होती है और नारी और प्रकृति तक ही सारे वर्णन समाप्त नहीं हो जाते। इसी से अन्य अनेक प्रकार के वर्णनों पर भी विचार करना पड़ता है।

जायसी ने सिंहलद्वीप के गढ़, चित्तौड़गढ़ और नगर का विशद वर्णन किया है। इन वर्णनों से हमें उनके बहुज्ञान और उनकी तीव्र पर्यायवेक्षण शक्ति का पता लगता है। हाटों में अनेक प्रकार की सामग्री भरी पड़ी हैं। अनेक प्रकार के साधु-संन्यासी मठों और मंडपों में बैठे हैं। पनिहारियों के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि थकता नहीं। नगर के हाट में हीरा-मोती का व्यवसाय होता है। समाज के अनेक वर्णों से कवि का निकट परिचय जान पड़ता है। कवि वेश्या, मालिन, गंधी, पण्डित, नाच-कूद वाले, चिरहटों, पाखंडियों, नाटक, चेटक कलाविशारदों, ठगों, व्यापारियों और ग्राहकों का भी वर्णन एवं उल्लेख करता है। जान पड़ता है, कवि का ज्ञानक्षेत्र नगर की नीचे की जनता तक ही सीमित है। राजदरबार तक उसकी पहुँच नहीं है। इसीसे उसके वर्णनों में ऐश्वर्य या भावुकता का विलास नहीं है। कवि जिस वातावरण में रहता है, वही वातावरण उसकी रचनाओं को ढक लेता है। इसी से आज के नागरिक पाठक को जायसी के वर्णन अरुचिकर होंगे। अधिकांश वर्णन केवल नाम-कथन मात्र हैं जैसे संन्यासियों की यह सूची—

> मठ मंडप चहुँ पास गँवारे। तपा जपा सब आसन मारे
> कोइसु ऋषीश्वर कोइ सन्यासी। कोई राजमती बिसवासी
> कोई ब्रह्मचार पथ लागे। कोइ सो दिगम्बर बिचरहिं नाँगे

कोई सु महेसुर जङ्गम जती । कोइ एक परखै देव सती
कोइ सुरसती कोई जोगी । कोइ निरास पथ बैठे वियोगी
सेवरा, खेवरा, बानपर, सिध साधक, अवधूत
आसन मारे बैठे सब जारि आतमा भूत

हाथियों का वर्णन भी कुछ इसी प्रकार है—

हस्ति सिंघली बाँधे बारा । जनु सजीव सब ठाढ़े पहारा
कौनौ संत पीत रतनारे । कौनौ हरे, धूम औ कारे
बर नहिं बरन गगन जस मेघा । औ तिन्ह गगन पीठि जनु सेघा
धरती भार न अँगवै पाँव धरत उठ हालि ।
कुसम टुटै, मुंह फाटै तिन्हह तिन्ह के चालि ॥

घोड़ों के सम्बन्ध में तो कवि का ज्ञान अगाध है। उन्होंने घोड़ों के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है। परंतु इस नाम-माला के बीच कहीं-कहीं वह बहुत ही सुन्दर सजीव चित्र उपस्थित कर सका है जैसे—

फिर न रहहिं रिस लोह चबाहीं । भाँजहिं पूँछ सीस उपराहीं

इससे स्पष्ट है कि घोड़ों के सम्बन्ध में उसको जानकारी केवल शास्त्रीय ही नहीं है। इसी प्रकार वेश्याओं के मनोविज्ञान और उनके हावभाव को उसने सजीव ढंग से उतारा है—

मुख तमोल, तन चीर कुसुंभी । कानन कनक जडाऊ खंभी
हाथ बीन सुनि मिरिग मुक्ताहीं । नर मोहहिं सुनि, पंग न जाहीं
भौंह धनुष, तिन्ह नैन अहेटी । मारहिं बान सान सौं फेरी
अलक-कपोल डोल हंसि देहीं । लाइ कटाच्छ मारिजिउ लेहीं
कुच कंचुक जानौ जग सारी । अंचल देहिं सुभावहिं ढारी
केत खलार हार तेहि पासा । हाथ झारि उठि चलहिं निरासा

इस प्रकार के वर्णनों में साहित्य की मात्रा की बहुत कमी है। रस-दृष्टि भी अधिक नहीं है। ऊपर के वर्णन में

नारी-रूप के वर्णन के लिये जो उपमान चुने गये हैं, वह पूर्णतः परंपरा-प्राप्त हैं। उनमें कोई नवीनता नहीं। विशेषता केवल यही है कि इस्लामी साहित्य-परंपराओं का जरा भी ऋण इस काव्य पर नहीं है। वह सौ-सौ शृङ्खलाओं से भारतीय साहित्य-परंपरा से बँधा हुआ है।

युद्ध का वर्णन भी जायसी ने विशद रूप से किया है, परंतु ऐसा नहीं ज्ञान पड़ता कि उन्होंने युद्ध अपनी आँखों से देखा है। प्राचीन साहित्य और जनश्रुति में युद्ध का जो स्वरूप था, उसे ही कल्पना के सहारे विकसित किया गया है। युद्ध के सारे उल्लेख पद्मावत की कथा के उत्तरार्द्ध में हैं। चार युद्धों का विशेष वर्णन है—अलाउद्दीन और रतनसेन का युद्ध, गोरा-बादल और अलाउद्दीन की लड़ाई, रतनसेन देवपाल के युद्ध। गोरा-बादल और अलाउद्दीन के युद्ध दो बार आये हैं। अधिकांश युद्धवर्णन कल्पनात्मक है और उसमें उत्प्रेक्षा अलंकार का व्यापक प्रयोग हुआ है। सेना का यह वर्णन देखिये—

आवै डोलत सरग पतारा। काँपे धरति, न अँगवै सारा
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ चक चूल उड़ाहिं तेहि छारा
सत-खंड धरती होइ षटखण्डा। ऊपर अष्ट भए बरम्हंडा
जेहि पथ चल ऐरावत हाथी। अबहुँ सो डगर गगन महं आथी
औ जहं जामि रही वह धूरी। अबहुं बसै जो हरिचंद-पूरी
गगन छपान खेह तस छाई। सूरज छिपा, रैनि होइ आई।

कल्पना की ओर भी ऊँची उड़ान भरता हुआ कवि कहता है कि सेना द्वारा उड़ी धूल के कारण दिन के स्थान पर रात हो गई और रात के सारे व्यापार चलने लगे—

दिनहिं राति अस परी अचाका। भा रवि अस्त चन्द्र रथ हाँका
मन्दिर जगत दीप परगसे। पंथी चलत बसेरै बसे

दिन के पंखि चरत उड़ि भागे। निसि के निसरिचरे सब लागे
कँवल संकेता, कुमुदिन फूली। चकवा बिछुरी, चकई फूली

यहाँ तो कल्पना का विलास कुछ ठीक भी चलता है। परंतु आगे की पंक्तियों में संयम कवि के हाथ से निकल जाता है और अतिशयोक्ति इतनी उच्छृङ्खल हो जाती है कि कवि की कल्पना खिलवाड़ लगने लगती है—

चला कटक-दल ऐस अपूरी। अगिलहि पानी, पिछलहि धूरी
महि उजरी, सागर सब सूखा। बनखंड रहेउ न एको रूखा
गिरि-पहार सब मिलिगे माटी। हस्ति हेराहिं तहाँ होइ चाँटी

कल्पना का यह असंयमित विलास मसनवी काव्य की एक विशेषता है। विषय की अलौकिकता की ओर इशारा करने में इससे थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य मिल जाती है, परन्तु वर्णित विषय का कोई रूप इसके द्वारा उपस्थित नहीं होता। कल्पना के विलास की दृष्टि से इस प्रकार के साहित्य को परवर्ती रीतिकाव्य से तुलना की जा सकती है।

गोरा-बादल के युद्ध में कवि उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है—

ओनवत आइ सेन सुलतानी। जानहुँ परलय आव तुलानी
लोहे सेन सूझ सब चारी। तिन्ह एक कहं न सूझ उधारी
खड़ग फोलाद तुरुक सब काढ़े। धरे बीजु अस चमकहिं ठाढ़े
पीलवान गज पेले बांके। जानहुँ काल करहिं दुइ फाँकें
जनु जमकात करहि सब भवाँ। जिउलेइ चहहिं स रग आसवाँ
सेल सरप जनु चाहहिं डसा। लेहिं काढ़ि जिउ मुख विष-बसा

यही नहीं, अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन करने में भी कवि कल्पना को ही प्रधानता देता है और अतिशयोक्तियों की झड़ी लगा देता है—

चलीं कमानैं जिन्ह मुख गोला। आवहिं चली, धरति सब डोला।
लागे चक्र वज्र के गढ़े। चमकहिं रथ सोने सब मढ़े।

तोपों का आविष्कार अलाउद्दीन खिलजी के समय तक नहीं हो पाया था। बाबर ने पहली बार भारतभूमि में तोपों का प्रयोग किया। कदाचित् शेरशाह भी इस नये अस्त्र से परिचित हो गया था। जायसी ने तोपों का भी अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन किया है—

तिन्ह पर विषम कमानैं धरीं। साँचे अष्टधातु कै ढरीं।
सौ-सौ मन वै पीयहिं दारू। लागहिं जहाँ सो टूट पहारू।
माती रहहिं रथन्ह पर परी। सत्रुन्ह महँ ते होहिं उठि खरी।
जौ लागैं संसार न डोलहिं। होइ भुइकंप जीभ जौ खोलहिं।
सहस सहस हस्तिन्ह कै पाँती। खींचहिं रथ, डोलहिं नहिं माती।
कहौं सिंगार जैस वै नारी। दारू पियहिं जैसि मतवारी।
उठै आगि जौ छाँडहिं साँसा। धुआँ जौ लागै जाइ अकासा।
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तखन चमकत जाहीं।
कुच गोला दुइ हिरदय लाए। अंचल धुजा रहहिं छिटकाए।
रसना लूक रहहिं मुख खोले। लंका जरै सो उनके बोलैं।
अलक जँजीर बहुत गिउ बाँधे। खींचहिं हस्ती टूटहिं काँधे।

तिलक पलीता माथे, दसन वज्र के बान।
जेहि हेरहिं तेहि मारहिं, चुरकुस करहिं निदान।

नायिका-रूप में तोप जैसे भयंकर अस्त्र का वर्णन विचित्र लगता है, परंतु हमें यह समझ रखना चाहिये कि उस समय के साहित्य में नारी के माध्यम से संसार को देखने की परिपाटी उतनी ही चलती थी, जितनी रीतिकाल और आधुनिक काल में। इसीसे हम तीनों युगों के काव्य को हम एक श्रेणी में रख सकते हैं। मूल प्रवृत्तियों में

अनेक विरोध होते हुए भी समानताएँ भी कम नहीं मिलेंगी—

१—कल्पनातिरेक

२—साहित्य-परिपाटी के विरुद्ध एक नवीन काव्य-सृष्टि

३—नारी के प्रति भावुकतामय दृष्टि

४—प्रकृति के प्रति रहस्यवादी और अतिरंजित दृष्टिकोण

५—शैली की दृष्टि से वैचित्र्य की ओर विशेष ध्यान

वास्तव में हम सूफ़ी काव्य को रोमांटिक काव्य कह सकते हैं। प्राचीन क्लासिकल परंपरा से यह काव्य एकदम अलग है। इसमें न कल्पना का संयम है, न पग-पग पर प्राचीन साहित्य-संपत्ति की ओर मुड़ कर देखा गया है।

जायसी के वर्णनों को हम कई श्रेणी में रख सकते हैं :

(१) नाम-कथन मात्र जैसे कुछ खण्डों में कवि घोड़ों की सूची मात्र दे देता है—

चले पंथ बेसर सुलतानी। तीख तुरंग बाँक कनकानी
कारे, कुमइत लील सुपेते। खिंग, कुरंग, बोज, दुर केते
अवलक, अरबी, लखी, सिराजी। चौधर चाल, समँद भल,ताजी
किरमिज, नुकरा, जरदे, भले। रूपकरान, बोलसर चले
पँच कल्यान, सँजाब बखाने। यहि सायर सब चुनि चुनि आने
मुशकी औ' हिरमिजी इराकी। तुरकी कहे भोथार कुलाकी
बिखरे चले जो पाँतिहि पाँती। बरन बरन औ' भाँतिहि भाँती

इस प्रकार के अनेक वर्णनों से पद्मावत भरा पड़ा है। हाथी, जौनार, पटरस व्यंजन, अलाउद्दीन और रतनसिंह की ओर के वीरगण और राजे इत्यादि अनेक नामोल्लेख-प्रसंग आते है। इस प्रकार की परिगणन-शैली काव्य को दुर्बल बना देती है। चाहे इससे कवि का बहुज्ञान प्रकाशित हो सके, इसमें संदेह नहीं कि श्रेष्ठ काव्य में इस प्रकार के नामकथन-मात्र का कोई महत्व नहीं। पद्मावत का बहुत बड़ा अंश नीरस

नामोल्लेख मात्र है। इन अंशों के हटाने से न काव्य-प्रवाह में बाधा पड़ती है, न कवि की प्रतिभा पर आघात होता है। रत्नसेन और अलाउद्दीन के भोज इस प्रकार के सब से लंबे वर्णन हैं। रत्नसेन के भोज में कवि भात, झालर, मांडे, लुचुई, सोहति, खण्डरा, बचका, डुमकौरी, वरी, कोहँडौरी, सँधाने, दूध, दही इत्यादि लोक-प्रसिद्ध भोज-पदार्थों का वर्णन करता है और अल्लाउद्दीन वाले भोज में अनेक प्रकार के मांस (छागर, मेढ़ा, हरिन, रोझ, लगना, चीतर, गोहन, झाँख, ससा, तीतर, बटई, लवा, सारस, कूज, पुछार, परेवा, पंडुक, खेहा, गुड़रू, बगेरी इत्यादि) मछली (रोहू, सिधरी, सौरी, टेंगरा, सींगी, भाकुर, पथरी, चनगरी), पूड़ियों और चावलों आदि का उल्लेख करता है। मनोरंजन और पाकशास्त्र की ऐतिहासिक खोजों की दृष्टि से यह लंबी सूची चाहे जितनी महत्वपूर्ण हो, इसमें संदेह नहीं कि यह काव्य किसी भी प्रकार नहीं है।

(२) रोमांटिक वर्णन जिनमें कवि अतिशयोक्ति और ऐश्वर्यमयी कल्पना का प्रयोग करता है जैसे सिंहलगढ़ के महल, रनिवास और राजद्वार का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

साजा राजमंदिर कैलासू। सोने कर सब धरति अकासू
सात खंड धौराहर साजा। उहै संवारि सकै अस राजा
हीरा ईंट कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लेइ आवा
जावत सबै उरेह उरेहे। भांति भांति नग लाग उवहे
भा कटाव अस अनबन भाँती। चित्र कोटि के पांतिहि पांती
लाग खंभ-मनि-मानिक जरे। निसदिन रहहिं दीप जनु बरे
देखि धौराहर कर उँजियारा। छपि गये चांद सूरुज औ' तारा

इस प्रकार के अत्यंत अतिशयोक्तिपूर्ण वैभव के वर्णन हिन्दी-काव्य की परंपरा से एकदम अलग हैं। कल्पना के बल से

लेखक एक अलौकिक-ऐश्वर्य-देश के चित्र उपस्थित करता है जहाँ की धूप हमारे संसार की धूप से अधिक तेज़ है और जहाँ की चाँदनी में हमारे यहाँ की चाँदनी से अधिक माधुर्य है। सिंहल, चित्तौड़, अश्व-गज, प्राकृतिक सौन्दर्य—कवि चाहे जो कुछ वर्णन कर रहा हो, वह ऐश्वर्यमयी मूर्तिमत्ता और कल्पना के सहारे उसे साधारण द्वीप नगर या पशु-पक्षी के कुछ ऊपर, कुछ अधिक, विचित्र चित्रित करता है। इसीसे हम सूफ़ी काव्य को हिन्दी का पहला रोमांटिक काव्य कह सकते हैं। इसी प्रकार सिंहल की राज-सभा का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

राजसभा पुनि देखि बईठी। इन्द्रसभा जनु परि गै डीठी
धनि राजा असि सभा संवारी। जानहु फूलि रही फुलवारी
मुकुट बाँधि सब बैठे राजा। दर निसान नित जिन्हके बाजा
रूपवंत, मनि दिपै लिलार। माथे छात, बैठे सब पारा
मानहु कँवल सरोवर फूले। सभा का रूप देखि मन भूले
पान कपूर मेद कस्तूरी। सुगंध वास भरि रही अपूरी
माँझ ऊँचे इन्द्रासन साजा। गंधर्वसेन बैठ तहँ राजा
छत्र गगन लगि ताकर, सूर तवै जस आप
सभा कँवल अस विगसै, माथे बड़ा परताप

इस प्रकार के वर्णन आधुनिक कविता के रोमांटिक अंशों से मेल खाते हैं। साहित्य में इनका विशेष स्थान है।

(३) इनके अतिरिक्त कुछ वर्णन ऐसे हैं जिनमें कवि का मूल उद्देश्य आध्यात्मिक है या जिन पर वह आध्यात्मिक रूपक का आरोप करना चाहता है। ऐसे वर्णन अनेक हैं और इन स्थलों को 'अन्योक्ति' कहा जा सकता है। सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड में कवि काया को गढ़ का रूपक देता है। जैसे काया के बीच में ही 'क़ल्ब' (प्रज्ञा) का निवास है, उसी प्रकार सिंहल द्वीप (गढ़) में पद्मावति है। कवि कहलाता है—

गढ़ तस बांक जैसि तोर काया । पुरुष देखि ओही कै छाया
नौ पौरी तेहि गढ़ मंझियारा । औ तंह फिरहिं पाँच कोटवारा
दसवें दुवार गुपुत एक ताका । अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका

× × ×

गढ़ तर कुण्ड, सुरंग तेहि मांहा । तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाहां

कवि का तात्पर्य तब स्पष्ट हो जाता है जब वह दसवें द्वार पर रखे राज-घड़ियाल के बजने की बात उठाता है और उससे जीवन की क्षणभंगुरता की सूचना देना चाहता है—

नव पौरी पर दसवँ दुआरा । तेहि पर बाज राज-घरियारा
घरी सो बैठि गनै घरियारी । पहर पहर सो आपनि बारी
जबी घरी पूजी तेइँ मारा । घरी घरी घरियार पुकारा
परा जो डांड जगत सब डांडा । का निचिंत माटी कर भांडा
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ कांचे । आएहु रहै न फिर कोई बांचे
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ । का निचिंत होइ सोउ बटाऊ

वास्तव में आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से ये स्थल सब से महत्वपूर्ण हैं और इनकी उपेक्षा करने पर हम कवि के आध्यात्मिक विचारों के साथ अन्याय ही करेंगे ।

की सामान्य गली-कूचों की विशेषताओं से परिचित हैं, हाथी-घोड़ों और भोजन के षटरस व्यंजनों की पूरी पूरी सूची उन्हें कंठस्थ है, परंतु उनके ऐश्वर्य और विलास के चित्र काल्पनिक हैं। इनसे कवि का सहज परिचय नहीं जान पड़ता।

परंतु जायसी साधारण लोककाव्य तो लिख नहीं रहे थे। लोक-रस (कथा-रस) को लेकर वह चल रहे थे, परंतु वह कथा-रस से कुछ आगे बढ़कर पद्मावती-रतनसेन को रूपक के रूप में भी प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इसी से वे पाणिग्रहण के अवसर पर सांकेतिक शब्दों के द्वारा आध्यात्मिक अर्थों की पुष्टि करते हैं। पद्मावती चाँद है, रतनसेन सूरज—

चाँद के दीन्ह जयमाला। चाँदि आगि सूरुज गिउ घाला
सूरज लीन्ह, चाँद पहिराई। हार नखत तरइन्ह स्यों पाई

इस प्रकार की सांकेतिकता जायसी को विशेष प्रिय है और जायसी के काव्य में हम बार-बार उसका परिचय पाते हैं।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि पद्मावत वर्ण-प्रधान कथा-काव्य है। 'मसनवी' का यही रूप है। उसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। महाकाव्य में विषय की जो उदात्त स्थापना होती है, शैली का जो संयम होता है, पात्रों की जो विशिष्ट रूपरेखा होती है, वह 'पद्मावत' में नहीं है। वैसे चाहे कथा के साथ महाकाव्य में वर्णित लगभग सारे ही प्रसंग पद्मावत में आ जाते हैं, केवल इसी एक आधार पर हम उसे महाकाव्य नहीं कह सकते। न शैली की दृष्टि से, न विषय की दृष्टि से। वह एक वृहद कथा-ग्रन्थ मात्र है जिसमें हठयोग और सूफ़ी साधना का रूपक घटाया गया है। हठयोग की धारा १००० ई० से जायसी के समय (१६वीं शताब्दी) तक बराबर बह रही

थी। तुलसी ने ३०-३५ वर्ष बाद 'रामचरितमानस' में 'अलख' जगाने वाले, मुद्रा-शृङ्गी धारण करने वाले योगियों को व्यंग से याद किया है। जायसी की महत्ता यही है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने हठयोग और सूफ़ीमत की समानता की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया और कदाचित् योग के माध्यम से सूफ़ी विचारावली का प्रचार किया। रतनसेन जोगी बन जाता है, पद्मावति-प्राप्ति के लिये जो बाधायें उपस्थित होती हैं, वे काया-गढ़ के भीतर योगी की आंतरिक बाधाओं से अधिक भिन्न नहीं हैं। पद्मावति जोगसिद्धि का भी प्रतीक हो सकती है। परंतु जैसा हमने पिछले पृष्ठों में बताया है, रूपक-कोष देकर जायसी ने यह स्पष्ट कहा है कि वे सूफ़ी-साधक हैं, हठ-योगी 'जोगी' नहीं। परंतु वास्तव में मध्ययुग में जोगियों और सूफ़ियों की विचारा-धारा में बहुत आदान-प्रदान रहा है। संभव है, यह आदान-प्रदान अरब और ईरान में ही आरंभ हो गया हो, परंतु १००० ई० के बाद स्वयं भारतभूमि में सिंध, मुलतान और पंजाब में योगी-पीठ थे और सूफ़ी-साधक इनसे अवश्य परिचित थे। पंजाब का 'जोगी बालानाथ का टीला' जायसी के समय भी प्रसिद्ध था और पद्मावत में उसका नाम आया है। अतः यह स्पष्ट है कि दोनों धार्मिक धाराओं में व्यापक रूप से आदान-प्रदान चलता रहा और जायसी का पद्मावत सूफ़ी विचारधारा में जोगियों की परिभाषाओं और उनकी कायानिष्ठ

की दृष्टि से जायसी का पद्मावत हिन्दी का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भाषा की दृष्टि से उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, सूफ़ी साधना और स्वच्छंदतावादी काव्य के नाते भी वह महत्वपूर्ण है। संभव है, हम आज उसे वह महत्त्व नहीं दें, जो कुछ वर्ष पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका में उसे दिया था, परंतु प्राचीन हिन्दी काव्य के इने-गिने प्रौढ़ ग्रन्थों में हम जायसी के इस ग्रन्थ की उपेक्षा भी नहीं कर सकते।

८

अखरावट

जायसी की आध्यात्मिक विचारधारा को भली भाँति समझने के लिए 'अखरावट' का अध्ययन अनिवार्य है। यद्यपि प्रेम और रहस्य-सम्बन्धी अनेक विचार पद्मावत में स्थान-स्थान पर बिखरे मिलते हैं, परंतु वे बहुत थोड़े हैं और उनके सहारे कवि की आध्यात्मिक विचारधारा पर विचार करना असंभव है। 'आखिरी कलाम' कवि की प्रारंभिक रचना है और उसमें केवल अन्तिम दिन का वर्णन है जो कट्टर इस्लामी जन-भावना से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। साहित्य और दर्शन दोनों की दृष्टि से 'आखिरी कलाम' महत्वपूर्ण नहीं है। इसलिए 'अखरावट' ही ऐसा ग्रन्थ रह जाता है जो जायसी की आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारधारा को समझने में हमें सहारा दे।

'अखरावट' एक छोटा-सा ग्रन्थ है। दोहा, चौपाई और सोरठा छंदों का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में तिथि-निर्देश कहीं नहीं है, परन्तु यह पद्मावत के बाद की रचना जान पड़ती है। २२वें दोहे की पहली चौपाई को कदाचित् 'पद्मावत' का ही निर्देश है—

दोहों का क्रम है और ३६वें दोहों पर 'ह' के साथ वर्णमाला समाप्त हो जाती है।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि यह रचना महत्वपूर्ण है और इस छोटी सी रचना का भी अभी सम्यक अध्ययन नहीं हो सका है। आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों के अध्ययन से यह साफ़ हो जाता है कि अखरावट पर औपनैषदिक ब्रह्मवाद का गहरा प्रभाव है जो कदाचित् पद्मावत पर अधिक नहीं है। पद्मावत में कवि योग-विचारावली से अधिक प्रभावित है। यहाँ भी कायागढ़ और योगमार्ग के परिचित कुण्डलिनी-उद्बोधन, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना और चक्रभेद का उल्लेख आया है। परन्तु यहाँ इनका विशेष विस्तार नहीं है। अन्त में कवि ने 'मुहम्मद के पंथ' (इस्लाम) को ही ग्रहण करने की शिक्षा दी है और सूफ़ीमत को ही कदाचित् सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया है। एक तरह से इस ग्रन्थ में ब्रह्मवाद, योग और सूफ़ीमत का समन्वय हो जाता है।

प्रलय से पहले सृष्टि की शून्यस्थिति का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

हुता जो सुन्न-म-सुन्न, नाँव ठाँव ना सुर सबद।
तहाँ पाप नहिं पुन्न, मुहमद आपहि आपु महँ॥

आपु अलख पहिले हुत जहाँ। नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ
पूर पुरान, पाप नहिं पुन्नू। गुपुत में गुपुत, सुन्न तें सुन्नू
अलख अकेल, सबद नहिं भाँती। सूरुज, चाँद, दिवस नहिं राती
आखर, सुर, नहिं बोल अकारा। अकथ कथा का कहौं विचारा
किछु कहिए तौ किछु नहिं आखौं। पै किछु मुँह महँ, किछु हिय राखौं
बिना उरेह अरंभ बखाना। हुता आपु महँ आपु समाना
आस न बास न मानुष अंडा। भए चौखंड जो ऐस पखंडा

रतन न धरति न खंभमय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बीरौ अस, ओहि न रंग न भेस ॥[1]

ऋग्वेद के नासिदेय सूक्त और यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में हमें भारतीय साहित्य में पहली बार 'अनस्तित्व' (nonexistence) के ऐसे वर्णन मिलते हैं। नसिदेय सूक्त में है—

उस समय न सत् था न अ-सत्।
न अन्तरिक्ष था न उसके परे व्योम था।
किसने सबको ढाँका था? और कहाँ? और किसके द्वारा रक्षित?
क्या वहाँ पानी अथाह था ॥१॥
तब न मृत्यु था न अमर मौजूद;
रात और दिन में वहाँ भेद न था।

कहाँ वह एकाकी स्वावलंबी शक्ति से श्वसित था,
उसके अतिरिक्त न कोई था उसके ऊपर ॥२॥
अंधकार वहाँ आदि में अँधेरे में छिपा था;
विश्व मेह-शून्य जल था।
वह जो शून्य और खाली में छिपा बैठा है।
वही एक अपनी शक्ति से विकसित था ॥३॥
तब सबसे पहिली बार कामना उत्पन्न हुई;
जो कि अपने भीतर मन का प्रारंभिक बीज थी।
और ऋषियों ने अपने हृदय में खोजते हुए,
अ-सत् में सत् के योजक सम्बन्ध को खोज पाया ॥४॥

× × ×

वह मूल स्रोत जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ,
और क्या वह बनाया गया था अकृत था,
(इसे) वही जानता या नहीं जानता है, जो कि
उच्चतम द्यौलोक से शासन करता है, जो सर्वदर्शी
स्वामी है ॥७॥ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद, दर्शनदिग्दर्शन,
पृ० ३८७—८)

उपनिषदों में नासिदेय सूत्र की इसी चिंताधारा का विशेष विकास हुआ। यह जो 'न सत् था, न असत्', उसे ही उपनिषद 'ब्रह्म' की संज्ञा देते हैं और अनेक विरोधी धर्माश्रयी गुणों की उसमें प्रतिष्ठा करते हैं। बाद में बौद्ध दार्शनिकों ने 'शून्य' को ही परमतत्त्व माना, परन्तु शून्य की उन्होंने जो परिभाषा की वह उपनिषदों की ब्रह्म की परिभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। पद्मावत में परमात्वतत्त्व को सर्वव्यापक और प्रेममय अवश्य बताया गया, परन्तु इतनी ऊँची उड़ान वहाँ नहीं है। 'अखरावट' में कवि स्पष्ट ही भारतीय वेदान्त से प्रभावित है। नीचे हम

'अखरावट' की आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारधारा की विस्तृत विवेचना करेंगे।

(१) सृष्टि

'अखरावट' के कवि की कल्पना है कि प्रारम्भ में जो महाशून्य था, उसी से इस सृष्टि की रचना हुई है। इस्लामी रवायतों (कथाओं) में है कि जब कुछ नहीं था तो केवल अल्लाह था। उसने कहा—'कुन' (प्रकाश हो) और प्रकाश हो गया। कवि कहता है—

गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
ऐसइ अंधकूप महँ रचा मुहम्मद नूर॥

उस अल्लाह (साईं, आदि गोसाईं) ने खेल के लिए इस सृष्टि की रचना की। वह स्वयम् उन चौदहों भुवन में रमा हुआ है जिनका निर्माण उसने किया और अपने खेल के रहस्य को स्वयम् वही जानता है। उसी एक प्रारंभिक नूर (प्रकाश) से अठारह सहस्र जीव-कोटियों (योनियों) की रचना हुई।[२] सचमुच में वह आदिसत्ता इन अठारह सहस्र जीव कोटियों में प्रकट हुई है।[३] भारतीय साहित्य में अश्वत्थ के रूप में संसार की कल्पना की गई है। गीता और मानस में सृष्टि प्रसंग इसी रूप में वर्णित है।[४-५] 'अखरावट' का कवि भी इसी रूपक को ग्रहण

२—आदिहु ते जो आदि गोसाईं। जेइ सब खेल रचा दुनियाईं
जस खेलेसि तस जाइ न कहा। चौदहु भुवन पूरि सब रहा
एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती
३—रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा
४-५—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

करता है। अल्लाह ने पहले नाम-रूप में मुहम्मद की रचना की। उनके प्रेम-बीज से दो अंकुर निकले। एक श्वेत, एक श्याम। श्वेत अंकुर से जो पत्र निकला वह धरती बना, श्याम अंकुर के पत्र से आकाश। इसके बाद इसी द्वैत के आधार पर सूरज-चाँद, दिन-रात, पाप-पुण्य, सुख-दुख, आनन्द-संताप, नरक-बैकुंठ, अच्छे-बुरे और झूठ-सच की सृष्टि हुई।[6] इस सृष्टि को देख कर उस प्रभु (अल्लाह) के हृदय में अत्यन्त आनन्द हुआ।[7]

फिर उसने इबलीस (शैतान) की सृष्टि की।[8] इसके

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषय प्रवालाः।
अधश्च मूलान्युसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
पटकंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत-फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे॥

६—ऐस जो ठाकुर किए एक दाऊँ। पहिले रचा मुहम्मद नाऊँ
तेहि कै प्रीति अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा
होते बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता
सूरज, चाँद, दिवस औ राती। एकहि दूसर भएहु सँघाती
चलिसो-लिखनी भई दुइ फारा। बिरिछ एक उपनी दुइ डारा
भेटहिं जाइ पुन्नि औ पापू। दुंख औ सुख, आनंद-संतापू
औ तब भए नरक बैकुंठू। भल औ मंद, साँच औ झूँठू

७—नूर मुहम्मद देखि तब भा हुलास मन सोइ

८—पुनि इबलीस सँचरेउ

बाद उसने अपनी ही प्रतिमूर्ति के रूप में आदम का निर्माण किया। इसके बाद चार फरिश्ते, फिर चार भूतों और उनमें पंच भूतात्मक इंद्रियों की रचना हुई। इन पंच भूतों और भूतात्मक इंद्रियों से उसने 'काया' का निर्माण किया जिसमें बीच-बीच में नव खुले द्वार रखे और दसवें द्वार (ब्रह्मरंध्र) को बंद रखा। आदम की रचना के बाद अल्लाह ने इबलीस को बुला कर कहा—यह दूसरी सृष्टि है। इसकी बंदगी में सिर झुकाओ। सब फरिश्तों ने सिर झुकाये। परन्तु इबलीस (नारद = शैतान) को अल्लाह ने दसवें द्वार का रक्षक बनाया।[९] आदम के साथ इस तरह उसका सदैव का संग हो गया। इसी नारद या इबलीस ने मनुष्य को धर्म-मार्ग से बहका कर पापी कर दिया।[१०] आदम ने हौवा का सृजन किया और दोनों आनन्द-पूर्वक स्वर्ग में रहने लगे। इबलीस (शैतान) के बहकाने

९—जबहीं जगत किएउ सब साजा। आदि चहेउ आदम उपराजा
पहिलेइ रचे चारि अद्वायक। भए सब अद्वैयन के नायक
यह आयसु चारिहु के नाऊँ। चारिवस्तु मेरवहु एक ठाऊँ
तिन्ह चारिहु के मँदिर सँवारा। पाँच भूत तेहि मँह पैसारा
आपु आपु महँ अरुझी माया। ऐस न जानै दहुँ केहि काया
नवद्वारा राखे मँझियारा। दसवँ मूँदि कै दिएउ केवारा

× × ×

उहँई कीन्हेउ पिण्ड उदेहा। यह सँजूत आदम के देहा
भइ आयसु, यह जग भा दूजा। सब मिलि नवहु, करहु एहि पूजा
परगट सुना सबद, सिर नावा। नारद कहँ विधि गुपुत दिखावा
तू सेवक है मोर निनारा। दसईं पँवरि होसि रखवारा
१०—धरमिहि धरि पापी जेहु कीन्हा। लाइ संग आदम के दीन्हा

से ही आदम ने गेहूँ खा लिया और फलतः वे दोनों स्वर्ग से निकाले गये।[११]

पृथ्वी पर आकर दोनों को बड़ा पछतावा हुआ। छः मास तक वे रोते रहे। अन्त में उन्होंने मिल कर सृष्टि चलाई। हिंदू-तुरुक उन्हीं की संतान हैं।[१२]

(२) जीव-ब्रह्म

जीव-ब्रह्म की स्थिति की 'अखरावट' में विशद रूप से विवेचन है। ब्रह्म इस सारे विश्व में पूर्ण रूप से विराजमान है (=पूर रहा)—

चौदह भुवन पूरि सब रहा

वही वास्तव में कर्ता है, जीव कुछ करता-धरता नहीं—

वैसब किछु, करता किछु माहीं। जैसे चलै मेघ परछाहीं

प्रारंभ में जीव-ब्रह्म एक थे, परंतु बाद में उनका बिछोह हो गया। जीव में ब्रह्म से मिलने की जो तड़प है, वह इसी बिछोह के कारण है—

हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा।
अब जिउ उठै तरंग मुहमद कहा न जाइ किछु॥

११—आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ घाला कबिलास।
पुनि तहँवा ते काढ़ा, नारद के बिसवास॥

× × ×

१२—खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग महँ पछिताने
छोड़ि जमाल-जलालहि रोवा। कोन ठावँ तैं बैठ बिछोवा
अंधकूप सगरउँ संसारू। कहाँ सो पुरुष, कहाँ मेहरारू
रैनि छ मांस तैसि झरि लाई। रोइ रोइ आँसू नदी बहाई
पनि माया करता कहँ भई। भा भिनसार, रैनि हट गई
सूरुज उए, कँवल दल फूले। दूवौ मिले पंथ कर भूले

तिन्ह संतति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुवौ भए अपने अपने दीन॥

जीव-ब्रह्म और प्रकृति (सृष्टि) की एकता के विषय में जायसी अत्यंत विश्वस्त हैं। यह सृष्टि और जीव की रचना तो उस ब्रह्म ने अपनी प्रभुता प्रगट करने मात्र के लिए की है—

जो उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा
रहा जो एक जल गुपुत समुन्दा। बरसा सहस अठारह बुन्दा
सोई अंस घटे घट मेला। औ सोइ बरन बरन होइ खेला
भए आप औ कहा गोसाईं। सिर नावहु सगरिउ दुनियाईं
आने फूल भाँति बहु फूले। बास बेधि कौतुक सब भूले

इस प्रकार जीव-ब्रह्म का अभेदत्व स्थापित हो जाता है। अंतर केवल इतना है कि अल्लाह के जमाल-जलाल का जीव में लोप हो जाता है। इसी जमाल-जमाल के प्रति उसका स्वाभाविक आकर्षण है। अपने भीतर डूब कर साधक इस अभेदत्व के तत्त्व को पहचान जाता है, तो वह आप लापता हो जाता है और उस अनंत सत्ता में विलीन हो जाता है—

बुन्दहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महँ

दूध और घी की उपमा से कवि इसी एकता की घोषणा करता है—

दूध माँझ जस घीउ है, समुद माँह जस मोति
नैन मींजि जो देखहु, चमकि उठे तस जोति

वही ज्योति इसी जगत के भीतर भासित हो रही है। इसी से कवि कहता है—एक ही ब्रह्म के चित् और अचित् दो पक्ष हुए, दोनों के बीच में तेरी अलग सत्ता कहाँ से आई? अपनी अलग सत्ता के भ्रम या अहंभाव को मिटा कर ब्रह्म में मिलकर एक हो जा—

एकहि तें दुह होइ, सौं राज न चलि सकै
बीचुतें आपुहि खोइ मुहमद एकै होई रहु

एक अन्य स्थान पर जायसी ब्रह्म की अनन्य सत्ता को इस प्रकार चित्रित करते हैं—

ठा-ठाकुर बड़ आप गोसाईं। जेह सिरजा जग अपनिहि नाईं
आपुहि आपु जौ देखै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा
आपुहि बन औ आप पखेरू। आपुहे सौजा, आपु अहेरू
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। आपुहि भँवर बास रस भूले
आपुहि फल, आपुहि रखवारा। आपुहि सो रस चाखनहारा
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपना रूप सराहै
आपुहि कागद, आपु मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी आखर, आपुहि पँडित अपार॥

(३) यः पिंडे स ब्रह्मांडे

परंतु जैसा हम ऊपर कह आये हैं, जायसी योग से भी

१३—वह अल्लाह सब से बड़ा है। उसने इस जगत को अपनी प्रतिच्छाया के रूप में गढ़ा। उसने जब अपने आपको देखना चाहा तो अपनी प्रभुता का विस्तार किया। इस जगत को दर्पण समझो जिसमें ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता है। वह आप ही दर्पण है, आप ही देखने वाला। वही वन है, वही पक्षीगण। वही आखेट है, वही अहेरी। वही वनपुष्प है, वही फूल की सुगंध पर मत भँवर। वह स्वयम् फल है, स्वयम् ही रखवाला। वही आप उसके रस को चाखने वाला है। वही घट है, वही घट में अपने मुख का प्रतिबिंब देख रहा। वही प्रतिबिंब है और उसकी प्रशंसा करने वाला भी वही है। वही कागज़ है, वही स्याही, वही लिखने वाला, वही लेखनी, वही अक्षर, वही अपने लिखे को समझ सकने वाला पंडित। इस प्रकार इस संसार में कहीं भी उसके सिवा कोई नहीं।

प्रभावित हैं और उन्होंने पद्मावत और अखरावट में काया के भीतर परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। पिंड और ब्रह्मांड की एकता का अर्थ है व्यष्टि और समष्टि की परस्पर अन्योन्याश्रियता। व्यापक ब्रह्म जिस प्रकार सारी सृष्टि में समाया हुआ है, उसी प्रकार मनुष्य के देह में भी समाया हुआ है। इसी से जायसी मनुष्य-शरीर में संसार की प्रतिच्छाया देखते हैं—

माथ सरग, धर धरती भएऊ। मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ
माटी माँसु, रकत भा नीरू। नसैं नदी, हिय समुद गँभीरू
रीढ़ सुमेरु कीन्ह तेहि केरा। हाड़ पहार जुरे चहुँ फेरा
बार बिरिछ, रोवाँ खर जामा। सूत सूत निसरे तन नामा
सातौ दीप, नवौ खंड, आठौ दिसा जो आहिं
जो ब्रह्म सो पिंड है, हेरत अन्त न जाहिं
आगि, वायु, जल, धूरि चारि मेरइ भाँडा गढ़ा
आपु रहा भरि पूरि मुहमद आपुहि आपु महँ।१४

आगे चलकर कवि इस रूपक को और भी स्पष्ट कर देता है—

नासिक पुल सरात पथ चला। तेहि कर भौंहैं हैं दुइ पला
चाँद सुरुज दूनौ सुर चलहीं। सेत लिलार नखत झलमलहीं
जागत दिन-निसि सोवत माँझा। हरष भोर, बिसमय होइ साँझा
सुख बैकुण्ठ मुगुति और भोगू। दुख है नरक जो उपजै रोगू

१४—(मनुष्य का) माथा स्वर्ग हुआ, धड़ धरती। इन दो पदों से मिलकर मानो दूसरा ब्रह्मांड हो गया। मांस हुआ मिट्टी, रक्त हुआ पानी, नसें नदी और हृदय गंभीर समुद्र। मेरुदंड सुमेरु पर्वत हुआ जिसके चारों ओर अस्थिरूप में अनेक पहाड़ इकट्ठे हुए। बाल हैं वृक्ष, रोम हैं घास-पात। इसी पिंड में सात द्वीप, नव खंड और आठों दिशाएँ हैं। जो ब्रह्मांड में है वही सब पिंड में है। इस पिंड को खोजो तो फिर इसका अंत नहीं मिलेगा।

बरखा रुदन, गरज अति कोहू। बिजुरी हँसी हिवंचल छोहू
घरी पहर बेहर हर साँझा। बीतै छओ ऋतु, बारह मासा१५

और भी आगे कवि शरीर पर सारे इस्लामी धर्म का आरोप कर देता है। यह घर (शरीर) ही जगह है जिसमें पृथ्वी और आकाश समाया हुआ है। माथा मक्का है, हृदय मदीना। श्रवण, आँख, नाक, मुख—इन्हें चार फ़रिश्ते (जिबराईल, मकाईल, इसराफ़ील और इज्राईल) कहो, या चार मित्र (उमर, उसमान आदि चार खलीफे), या चार मुरशिद (गुरु) या चार किताबें (तौरेत, जबूर, इंजील, क़ुरान)। इन्हें अली, हसन हुसेन आदि इमाम भी कह सकते हैं। नाभिकमल (कुंडलिनी) के पास क़ोतवाल (प्रहरी) के रूप में नारद (शैतान) विराजमान है। यह नवों द्वार घूमता रहता है। दसवें द्वार से वह किसी को प्रवेश नहीं करने देता।१६

१५—नाक मानों सरात का पुल है जिससे पार होकर स्वर्ग तक जाना संभव है। भौंहें मानो उस पुल के दो पार्श्व हैं। श्वास का प्रवाह कभी दाहने नथने से चलता है, कभी बायें से। माथे पर जैसे श्वेत नक्षत्र झलमला रहे हों। शरीर की जाग्रत अवस्था को ही दिन समझो। शरीर में जब हर्ष का संचार होता है, तब प्रभात जानो। सुख है बैकुंठ, दुख रोग हैं नरक। चंद, सूर्य, दिन, रात ऋतु, मास, वर्षा, चमक, गरज, घड़ी, पहर, युग इत्यादि सब शरीर के भीतर समझो। प्रत्येक साँस घड़ी पहर की गणना करती है। इसी शरीर में छओं ऋतु हैं और बारहों महीने।

१६—घा-घट जगत बराबर जाना। जेहि महँ धरती सरग समाना
माथ ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबी का नाऊँ
सरवन, आँखि, नाक, मुख चारी। चारिहु सेवक लेहु बिचारी
भावै चारि फिरिस्ते जानहु। भावै चारि चार पहिचानहु

इस प्रकार जायसी विश्वव्यापी चेतनतत्व (अल्लाह) को मनुष्य शरीर (घट) के भीतर ही स्थित मानते हैं और उनके अनुसार बाहर की सारी सृष्टि मनुष्य के भीतर सूक्ष्म रूप में रची हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधक को कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता। वह तो काया में ही स्थित है ! जब सारा ब्रह्मांड उसमें भरा हुआ है तो वह पिंड में क्यों नहीं होगा ?

(४) साधना

अखरावट में जीव, ब्रह्म और प्रकृति के पारस्परिक संबंध के साथ साधना-पक्ष पर भी विचार किया गया है। मूलतः सूफी साधना प्रेम और विरह की साधना है। साधक को अपने भीतर बिछुड़े हुए प्रियतम (अद्वैत स्थिति, अल्लाह) के प्रति 'प्रेम की पीर' जगानी पड़ती है। एक समय जीव-ब्रह्म (अल्लाह-बन्दा) एक थे। न जाने किस कारण से इस अभेद में भेद उत्पन्न हो गया। अब दिनरात जीव के हृदय में यह तड़पन उठती है कि कैसे ब्रह्म से मिलकर फिर अभेदस्थिति का अनुभव किया जाये—

हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरे।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु ॥

यह तरंग तीव्र प्रेम की ही तरङ्ग है। परन्तु यह प्रेमरस साधा-

भावै चारिहु मुरसिद कहऊ। भावै चारि किताबें पढऊ
भावै चारि इमाम जो आगे। भावै चारि खंभ जे लागे
भावै चारिहु जुग मति पूरी। भावै आगि, बाद, जल, धूरी
नाभि-कंवल तर नारद लिए पाँच कोटवार।
नवौ दुवारि फिरै नित दसईं कर रखवार ॥

रण प्रेम-भावना नहीं है, यह तो 'सिर का सौदा' है। जायसी कहते हैं—

परे प्रेम के झेल, पिउ सहुँ धनि मुख सो करै
जो सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम-रस

इस प्रेम की साधना के लिए शिक्षा-दीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल 'उसमें' खो जाना है। उसमें खोकर ही अपने को पाना होता है—

का भा पढ़े गुने औ लिखे ? करनी साफ किए औ सिखे
आपुहि खोइ ओहि जो पावै। सो शीरौ मनु लाइ जमावा
जो ओहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै अमृत-फल खाई
आपुहि खोए पिउ मिले, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥

परन्तु यह प्रिय की खोज सरल काम नहीं है। यह कोई हँसी-खेल नहीं है। जो उसे पा जाता है, वह तो गूँगा हो जाता है। उसे तो कुछ कहने को ही नहीं रहता—

कठु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया
तहँ नहिं हँसी न रोज, मुहमद ऐसे ठाँव वह

वास्तव में वह तत्त्व तो पुष्प-वास की तरह सूक्ष्म है। वह तो नैनों में ही भरा है। उसे निकट से निकट और दूर से दूर जानो। कवि कहता है—

पुहुप बास जस हिरदय रहा नैन भरिपूरि
नियरे से सुठि नीयरे, ओहट से सुठि दूरि

इस अत्यन्त सूक्ष्म-तत्त्व के प्रेम के द्वारा भावगम्य किया जा सकता है।

वैसे किसी विशेष साधना की ओर जायसी का दुराग्रह नहीं है, सभी साधक ठीक हैं। वे तो कहते हैं—

विधिना के मारग है तेते । सरग-नखत तन-रोवाँ जेते

जेइ हेरा तेइ तहँवैं पावा । भा संतोष, समुझि मन गावा

परन्तु वे फिर भी 'मुहम्मद' के पक्ष को अधिक उपादेय मानते हैं। यह पंथ अत्यन्त निर्मल है। इसमें कविलास (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है। क़ुरान इस पन्थ का प्रमाण है। इसको सुनते ही शैतान (नारद) भाग खड़ा होता है। पाप छूट जाता है और पुण्य की प्राप्ति होती है। इस मार्ग को जो पा जाता है, वह इस संसार-रूपी सागर के पार हो जाता है। जो इस पन्थ से भूल-भटक जाता है, उसे चोर-डाकू लूट लेते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह 'मुहम्मद' के पन्थ की बात केवल श्रद्धालुओं को आश्वस्त करने के लिए है। आगे चलकर जायसी नमाज़, तरीक़त, हक़ीक़त, मारफ़त और शरीअत को इस पन्थ के स्तंभ बताते हैं। इन पर जायसी ने विस्तार-पूर्वक नहीं लिखा है, परन्तु सूफ़ी मत में इनकी व्याख्या उपस्थित है। जान पड़ता है, इस व्याख्या से जायसी पूर्णतः सहमत हैं। इस्लामी सृष्टि-रचना की कल्पना से भी उनका कोई मतभेद नहीं है। क़ुरान में आदम को ख़ुदा (अल्लाह) के रूप-रङ्ग का कहा गया है। यहाँ भी कोई भेद नहीं। आदम के स्वर्ग से निकाले जाने की कथा भी जायसी मानते हैं। परन्तु उन्होंने आदम के अल्लाह से बिछोह के दुख को साधारण जीव का वियोग दुख मान कर

मी कल्पना पर सूफ़ी मत की प्रतिष्ठा कर दी है। जीव-

में जमाल-जलाल [illegible] अस्तित्व और अनस्तित्व का ही

है ! जीव जब इ [illegible] में ज [illegible] है, तो अल्लाह के

माल और जलाल [illegible] सका उसे दुःख

ोता है—

छोडि [illegible] बिछोवा

यही सूत्र [illegible] है।

साधकों की भाँति जायसी भी मक्का-मदीना, फरिश्तों और इमाम में विश्वास रखते हैं, परंतु इनकी उन्होंने नये प्रकार से व्याख्या भी कर दी है। ये सब कायानिष्ठ हैं। इनके लिए हज (तीर्थ-यात्रा) और कृच्छ्र साधना की आवश्यकता नहीं।

कायानिष्ठ ब्रह्म (अल्लाह) की प्राप्ति के लिए सूफ़ियों की अपनी विशिष्ठ साधना है, परंतु उन्होंने योग-मार्ग की साधना को भी बुरा नहीं कहा है। स्थान-स्थान पर उन्होंने योगियों के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। अनहद नाद, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, वंकनालि इत्यादि न जाने योगसाधना-परक कितने शब्द 'अखरावट' में आते हैं। योगियों में 'सुन्न' का बड़ा महत्व था जो कदाचित् बौद्ध शून्यवादी सिद्धों के दाय के रूप में उन्होंने प्राप्त किया था। जायसी इस 'शून्यवाद' को भी साधना में स्थान देना नहीं भूले—

इहै जगत के पुन्नि, यह जप-तप सब साधना।
जानि परै जेहि सुन्न मुहमद सोई सिद्ध भा॥

भा-भल सोइ जो सुन्नहि जानै। सुन्नहि तें सब जग पहिचानै
सुन्नहि तें है सुन्न उपाती। सुन्नहि तें उपजहिं बहु भाँती
सुन्नहिं माँझ इंद्र बरम्हंडा। सुन्नहिं तें टीके नवखंडा
सुन्नहिं तें उपजे सब कोई। पुनि बिलाई सब सुन्नहि होई
सुन्नहिं सात सरग उपराहीं। सुन्नहिं सातौ धरति तराहीं
सुन्नहिं ठाट लाग सब एका। जीवहिं लाग पिंड सगरे का
सुन्नम सुन्नम सब उतराई। सुन्नहिं महँ सब रहे समाई

सुन्नहि महँ मन-रूख जय काया महँ जीउ।
काठी माँझ आगि जस, दूध माहँ जस घीउ॥

शून्य के सम्बन्ध में उन्होंने जो ऊपर कहा है, वह 'सिद्धसिद्धांत-पद्धति' की इस विचारधारा से अधिक भिन्न नहीं है—

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः
नो वेदा नैव यज्ञा न च रवि शशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानंद मूर्तें ॥

यह 'शून्यवाद' हिंदी काव्य में पहली बार सरहपा में मिलता है—

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि नाह पवेश
तहि पर चित्त विशाम करु सरहे कहिअ उवेश
आद न अंत न मंझ णउ, णउ भव णउ निव्वाण
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण

बौद्ध नागार्जुन प्रसिद्ध शून्यवादी हैं। माध्यमिक शास्त्र (मंजयो सं० ११७१) में नागार्जुन ने बताया है कि तत्त्व जैसा है वैसा उसका वर्णन करना असंभव है। वह शून्य है। शून्य ही से सब पदार्थ उत्पन्न है और शून्य में ही वे लीन हो जाते हैं। इस शून्य रूप की अनिर्वचनीय सत्ता की अनुभूति होने के कारण ही बुद्ध तथागत हैं। दृश्य पदार्थ भी शून्य ही हैं। शरीर भी शून्य ही है। शून्य को हम सत् कह सकते हैं, न असत्। सत् और असत् दोनों भ्रम हैं। सापेक्ष गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है। इसे "शून्याशून्य" भी कह सकते हैं। यही शून्यवाद योगियों (नाथपंथियों) के माध्यम से कबीर आदि सन्तों और जायसी आदि सूफियों को प्राप्त हुआ। ब्रह्मरंध्र, भँवर-गुफा इत्यादि शून्यवादी शब्द तीनों मतवादों में एक ही प्रकार प्रचलित हैं। कबीर ने 'निरंजन' को 'शून्य' का ही साम्यवाची माना है—

राम निरंजन न्यारे अञ्जन सकल पसारा रे
अञ्जन उत्पति ओ ओंकार, अञ्जन माँड्या सब विस्तार

अञ्जन ब्रह्म-संकर-इंद्र, अञ्जन गोपी संगि गोविंद
अञ्जन वाणी अञ्जन वेद, अञ्जन कीयां नाना भेद
अञ्जन विद्या-पाठ-पुराण, अञ्जन फोकट कथहिं गियान
अञ्जन पानी अञ्जन देव, अञ्जन की करै अञ्जन सेव
अञ्जन नाचै अञ्जन गावै, अञ्जन भेप अनन्त दिखावै
अञ्जन कहाँ कहाँ लग केता, दान-पुनि तप तीरथ जेता
कहै कबीर कोई विरला जागै, अञ्जन छाँड़ि निरंजन लागै

एक अन्य स्थान पर कबीर कहते हैं—

गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना
उदय औ' अस्त का नाम नाहीं
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम परकाश के सिंधु मांही
सदा आनंद दुखदंद व्यापै नहीं,
पूरनानंद भरपूर देखा
मर्म औ' भ्रांति तहं नैक पावै नहीं,
कहैं कबीर ए एक देखा

स्पष्ट है कि यही विचारधारा बहुत कुछ अपने चलते-फिरते रूप में लोक-जीवन से जायसी को प्राप्त हुई और उन्होंने उसे 'पद्मावत' में अपनी प्रेम-विरह-साधना में विशिष्ट अङ्ग के रूप में स्वीकार कर लिया।

काया-निष्ठ ब्रह्म अथवा पिंड में ब्रह्मांड की विचारधारा भी जायसी की अपनी वस्तु नहीं है। वह तो कदाचित् प्रागैतिहासिक काल से चली आती है। सरहपा कहते हैं—

एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थ से गंगा साअरु
एत्थु पआग वणारसि, एत्थु से चंद दिवाअरु
खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु मइँ भमइ परिट्ठओ
देहा-सरिसअ तित्थ, मइँ सुइ अण्ण ए दिट्ठओ

सरउ-पुअणि-दल-कमल-गंध केसर नानालें
छड्डहु वेणिम ण करहु सो सोंग लग्गहु बढ़ ! आलें
काय तित्थ णअ जाइ, पुच्छइ कुल हीणओ
बम्ह-विट्ठु तेलोअ, सअल जहि णिलीण ओ
बुद्धि विणासइ मण मरइ, जहि तुट्टइ अहिमाण
स मायामअ परम फलु, तहि कि बज्झइ झाण

यहीं काया में गङ्गा-जमुना हैं, यहीं गङ्गासागर है, यहीं प्रयाग-वाराणसी हैं, यहीं सूर्य-चन्द्र हैं। इसी काया में क्षेत्र, पीठ, उपपीठ हैं। इन्हीं क्षेत्रों में भ्रमण करो। देह के समान तीर्थ मैंने अन्यत्र नहीं देखा। नाल पर स्थित कमलिनी के प्रत्येक दल में गंध है, हे मूढ़, तू इस तत्त्व को नहीं जानता। जीव-ब्रह्म, क्षेत्र (देह)-क्षेत्रज्ञ (देही) का यह द्वैत छोड़ दे। इस काया-तीर्थ में जाति-कुल, ब्रह्मा-विष्णु, त्रैलोक्य सब हैं। मनुष्य को केवल अपने अभिमान का नाश करना है। जब बुद्धि का नाश हो जाता है और मन अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त होकर परम फल की प्राप्ति करता है। सब ओर से हटा कर ध्यान वहीं बाँध! कबीर इसी बात को अपनी धुन में अपने ढंग से कहते हैं—

खेल ब्रह्माण्ड का पिंड में देखिया मर्यादा दूरि भागी
बाहरा-भीतर एक आकासवत सुखमना डोरि तहँ उलटि लागी
पवन को उलटि कर सुन्न में घर किया धरिया में अधर भरपूर देखा
कहै कब्बीर गुरुपूर की मेहर सों तिखुटी मद्ध दीदार पेखा

यही बात अनेक प्रकार से 'अखरावट' में जायसी ने कही है। 'त्रिकुटी' की महिमा उनके सूफ़ी-पंथ में भी चल पड़ी है—

पुतरी महँ जो बिन्दी है कारी। देखे जगत सो पट विस्तारी
हेरत दिस्टि उवरि तस आई। निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई
पेम-समुन्द सो अति अवगाहा। बूड़ै जगत न पावै थाहा

और भी आगे बढ़ कर वह 'कायानगरी' की बात उठाते हैं—

नर-नगरी काया विधि कीन्हा। लेइ खोजा पावा, तेइ चीन्हा

पद्मावत के 'गढ़छेका' प्रसंग (खंड) में कवि ने इस कायानगरी (गढ़) को जीत कर पद्मावति (ईश्वर) की प्राप्ति का रूपक रूप में अत्यंत आकर्षक वर्णन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी की साधना का आधार औपनैषदिक ब्रह्मवाद है; उन्होंने ब्रह्म को कायानिष्ठ मान कर योग की अनेक साधनाओं को अपनाया है और कट्टर इस्लामी पंथ के बाह्योपचारों को स्वीकार करते हुए उपनिषदों के ब्रह्मवाद और योग के चक्रभेदन के आधार पर इन इस्लामी बाह्याचारों की नई व्याख्या की है जिनसे इनका रूप ही बदल गया है। वास्तव में मध्ययुग समन्वय का युग था। प्रतिक्रिया-रूप में प्रतिकार भी था। तुलसीदास और सूरदास का काव्य प्रतिकार का ही काव्य है। परन्तु सिद्धों, संतों, नाथों और सूफ़ियों के काव्य में प्रतिकार की अपेक्षा समन्वय और सहकार की भावना ही अधिक है।

(५) नैतिक मतवाद

सभी आत्मनिष्ठ धर्मों में आत्मपरिष्कार के लिए नीति के सुन्दर तत्त्वों का विधान है। जायसी ने 'अखरावट'

१७—द्रा- डरपहु मन सरगहि, खोई। जेहि पाछे पछिताव न होई
गरब करै, जो 'हौं, हौं करई। वैरी सोइ गोसाईं क अहई
जौ जानै निहचय है मरना। तेहि कहँ 'मोर-तोर' का करना
नैन, वैन, सरवन विधि दीन्हा। हाथ पाँव सब सेवक कीन्हा
जेहि के राज भोग-सुख करई। लेइ सवाद जगत जस चहई
सो सब पूछिहि, मैं जो जो दीन्हा। तैं ओहि कर कस अवगुन कीन्हा
कौन उतर, का करब बहाना। बोवै बबुर, लवै कित धाना
कै किछु लेइ, न सकप तब, नितहि अवधि नियराइ

में चारित्रिक और आध्यात्मिक शुद्धि के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना है। साधारण भक्त की तरह इनकी दृष्टि भी सदैव इस लोक से ऊपर परलोक की ओर उठी रहती है। यह 'अहम्' किसलिये? जो 'मेरा' 'मेरा' करता है, वह ईश्वर का वैरी है। जब मरना निश्चय है तो मेरा-तेरा क्या? उसने आँख-कान दिये, अन्य अनेक इंद्रियाँ दीं, इनका ठीक उपयोग न कर सका तो वह पूछेगा तो क्या उत्तर होगा, क्या बहाना होगा। इसी से कवि साधक को साधारण इंद्रियोपभोग से ऊपर उठने के लिए आह्वान करता है। साधक का सब से बड़ा शत्रु है मन। इसी का निरोध करना होगा। इसके लिए मन की साधना की आवश्यकता होगी। रूपक-रूप में इस साधना का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मा-मन मथन करै तन खीरू। दुहै सोइ जो 'आपु अहीरू
पाँचौ भूत आतमहि मारै। दरब-गरब करसी कै जारै
मन माठा सम अस कै धोवै। तन खैला तेहि माहँ बिलोवै
जपहु बुद्धि कै दुइ सन फेरहु। दही चूर अस हिया अमेरहु
पछुवाँ कढ़ुई कैसन फेरहु। ओहि जोति महँ जोति अमेरहु
जस अंतरपट साढ़ी फूटै। निरमल होय मया सब छूटै
माखन मूल उठै लेह जोती। समुद माहँ जस उलथैं मोती
जस घिउ होइ जराइ कै, तस जिउ निरमल होइ
महै महेरा दूरि करि, भोग करै सुख सोइ१८

'रामचरितमानस' के उत्तरकांड में तुलसी ने भी कुछ इसी तरह की साधना को साधकों के सामने रखा है—

१८—मन को मथानी बनाले और तन को क्षीर (दूध)। जो आप अहीर होगा, वही उसको दुह सकेगा। आत्मा में पाँचों भूतों को मार कर स्थिर करे। गर्व को ईंधन बनावे। मन को मट्ठे के समान धो-धोकर स्वच्छ करे। तन को मथानी बनाकर उसे

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदयँ बस आई
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृत सम जावनु देइ जमावै
मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ

दोनों रूपक और भी आगे बढ़ते हैं। जायसी का कहना है कि ऐसा दीपक जिस आले में जलता है, वहाँ उजयाला ही उजयाला हो जाता है—

दीपक जैस गसत हिम-आरे। सब घर उजियर तेहि उजियारे
तेहि महँ अंस समानेउ आई। सुन्न सहज मिलि आवै जाई
तहाँ उठै धुनि आउंकारा। अनहद सबद होइ झनकारा
तेहि महँ जोति अनूपम भाँती। दीपक एक, बरै दुइ बाती
एक जो परगट होइ जो उजियारा। दूसर गुपुत सो दसवँ दुवारा
मन जस टेम, प्रेम जस दीया। आसु तेल, दम बाती कीया

बिलोये। द्विविधा छोड़कर एक ही में ध्यान जगाओ। जप और बुद्धि की दो दिशाओं में मथानी को घुमाओ। हृदय को दही के रूप में मानो। पीछे छोटी कटोरी डाल-डाल कर मक्खन को अलग करो। सारा मल निकाल लो। तब अंतर से एक अत्यन्त निर्मल ज्योति फूटेगी। माया-मोह का नाश होगा। इस मक्खन को तपाने से मोती जैसा निर्मल घी प्राप्त होगा। छाछ को अलग कर दे और उस घी को जलाये तो अत्यन्त निर्मल ज्योति का आनन्द लाभ हो सकेगा।

तहँवा जम जस भँवरा फिरा करै चहुँ पास
मीचु पवन जस पहुँचे, लेइ फिरै सो बास
सुनहु वचन एक मोर दीपक जस आरै बरै
सब घर होइ अँजोर, मुहमद तस जिउ हीय महँ १६

तुलसी भी कहते हैं—

एहि विधि लेसै दीप तेज रासि बिग्यानमय
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा
प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई

इस प्रकार की भाव-साम्यता से मध्ययुग की सामान्य विचार-धारा पर प्रकाश पड़ता है जो जाति और धर्म के भेदों-प्रभेदों को नाँघ कर अनंत शांति, शाश्वत सत्य की ओर प्रवाहित हो

१६—हृदय के आले में जब ऐसा दीपक जलेगा तो उजियाला ही उजियाला हो जायेगा। जल में ब्रह्म का अंश समाया होगा। शून्य निर्गुण अव्यक्त सहज रूप में प्राप्त होगा। तब वहाँ ओंकार प्रणव ध्वनि सुनाई पड़ेगी और अनाहत नाद (दिव्य संगीत) झंकृत होगा। उस दीपक में दो बत्तियां जलेंगी—एक अंतर्मुख, दूसरी बहिर्मुख। एक से तो प्रगट रूप में उजयाला होगा। दूसरी ज्योति दसवें द्वार के पीछे गुप्त रूप से जलती रहेगी। मन दीपक की लौ है; प्रेम का दीपक है, प्राण का तेल है और श्वास की बत्ती है। वहाँ उस ज्योति के चारों ओर जीवात्मा पतंग की भाँति घूमता फिरेगा। जब मृत्यु रूपी पवन आयेगा तो वह उस पतंग को छू भी नहीं सकेगा, केवल उसकी बास प्राप्त कर सकेगा।

रही थी। वास्तव में मध्ययुग के भक्तों, संतों और सूफ़ियों में विचार और भावना की संकीर्णता नहीं थी। अपने-अपने धर्मों का पालन करते हुए भी वे उन्हें ही एकमात्र पंथ नहीं बताते। किसी एक मत या सिद्धान्त में व्यापक सत्य को बाँध देना ऐसा ही है जैसा हाथी के अंग-प्रत्यंग को टोह-टोह कर उसके रूप और आकार का पता लगा लेने का भ्रम। जायसी ने स्वयं कहा है—

सुनि हस्ती कर नाँव अँधरन्ह टोवा धाइ कै
जेइ टोवा जेहि ठाँव मुहमद सो तैसे कहा

इसी से अखरावट में जायसी किसी सिद्धांतवाद में बँध जाना नहीं चाहते। वे योग, उपनिषद, अद्वैतवाद, भक्ति और इस्लामी एकेश्वरवाद से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। उनके लिए कुछ भी अग्राह्य नहीं है, यदि वह उनमें प्रेम की पीर जगाने में सफल हो सके। अनेक अलग-अलग पंथों को अनेक भावनाएँ, अनेक विचारावलियाँ, अनेक सूक्तियाँ जायसी के धर्मभाव में मिलकर उससे इतनी एकाकार हो गई हैं कि साधारण बुद्धि चमत्कृत हो उठती है। ब्रह्मवाद (अद्वैत), योग (हठयोग चक्रभेद और आनंदवाद) और सूफ़ी इस्लामी सिद्धांतों का समन्वयात्मक एकीकरण जायसी की विशेषता है।

'अखरावट' में कवि जो आध्यात्मिक विचार हैं, उन्हें हम इस प्रकार संक्षेप में रख सकते हैं :—

१—आदि में एक चित्सत्ता ही की स्थिति थी, उसे चाहे आदि गोसाईं कहो, या नूर कहो, या अल्लाह, या सुन्न (शून्य)। कालांतर में इसी अनस्तित्व से द्विधा-युत जग का निर्माण हुआ। आकाश-पाताल, पाप-पुण्य, सुख-दुख।

२—नारद या शैतान के भुलावे में आकर जीव की अभेद स्थिति जाती रही। आदम स्वर्ग से निकाला गया। जीव अल्लाह के जमाल और जलाल से वंचित हुआ।

३—जीव में इसी वियोग की तड़पन है। वह एक बार फिर अल्लाह के जमाल और जलाल को प्राप्त करना चाहता है। यह उसी समय संभव है, जब पहली अभेद-स्थिति को वह प्राप्त हो सके, जब जीव ब्रह्म (अल्लाह) हो जाये।

४—इसके लिए प्रधान साधन है मन का परिष्कार।

५—परंतु केवल मन के परिष्कार से ही कुछ नहीं होता। साधक को कुछ विशिष्ट साधनाओं की भी आवश्यकता पड़ती है। जायसी का सूफ़ी पंथ पर विशेष आग्रह है, यद्यपि वह प्रत्येक पंथ को उपादेय मानते हैं।

६—जायसी का सूफ़ी पंथ उनकी अपनी खोज है। वह न शास्त्रीय सूफ़ी पंथ है, न केवल भावनात्मक रहस्यवादिता। उनके अंग हैं :

(क) नमाज़, तरीक़त, मारफ़त, हक़ीकत और शरीअत। ये इस्लामी विधि-विधान हैं परन्तु जायसी ने इनकी नई व्याख्या की है, यद्यपि इनके संबंध में विस्तार-पूर्वक उन्होंने नहीं लिखा।

(ख) उसमें योग की भाँति कायानिष्ठ ब्रह्म की भावना है। इस पिंड (शरीर) में ही अल्लाह समाया है। 'त्रिकुटि', 'चक्रभेद' इत्यादि यौगिक साधनाओं द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव है।

(ग) नैतिक आचरण और हृदय-मन की शुद्धता।

(घ) 'प्रेम की पीर' की साधना।

७—यह निश्चय है कि जायसी ने अंतिम अंग पर अधिक बल दिया है। सूफ़ी तो एकमात्र प्रेम को जानता है। 'पद्मावत' में इस अंग को ही काव्य का विषय बनाया गया है। 'पद्मावत' की कहानी 'प्रेम की पीर' की ही कहानी तो है। इसी से जायसी अखरावट में प्रेम की साधना को विस्तारपूर्वक नहीं समझाते। यह समझाने की बात भी नहीं है। इसे तो हृदय ही समझ

सकता है। फिर इस साधना के आनन्द का आभास गुरु-मुख होने से मिलता है। जायसी स्पष्ट कहते है—

भा-फल मीठ जो गुरु हुँत पावै

परन्तु गुरु भी साधक को कितनी दूर बढ़ा सकता है। इस सकरे पथ पर तो अकेला ही चलना होगा। कवि कहता है—

कठिन मेल औ मारग सँकरा। बहुतन्ह खाइ फिरे सिर टकरा
मरन-खेल देखा सो हँसा। होइ पतंग दीपक महँ धँसा
तन-पतंग कै भिरिङ्ग कै नाईं। सिद्ध होइ सो जुग जुग ताईं
बिनु जिउ दिए न पावै कोई। जो मरजिया अमर या सोई

इस कठिन प्रेम-पंथ के साधक का यह एक चित्र कितना सजग है—

प्रेम तंतु तस लाग रहु करहु ध्यान चित बाँधि।
पारस जैस अहेर कहँ लाग रहै सर साधि॥

यह प्रेम की एक लक्ष्य साधना ही रूपक-रूप में रत्नसेन की पद्मावती-प्राप्ति की कहानी बन गई है।

८—अध्यात्म-दर्शन के रूप में जायसी औपनैषदिक ब्रह्मवाद से भी आगे जाते हैं। वह कहते हैं—

जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिंन कोइ
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ

वह जीव ब्रह्म और प्रकृति को तत्त्वतः एक मानते हैं, यद्यपि कहीं-कहीं जहाँ वे प्रकृति को 'उसकी' छाया कहते हैं, वहाँ प्रतिबिंबवाद की झलक आ जाती है। जो अंतर है, वह माया के कारण नहीं है, शैतान की करनी है। शैतान के भुलावे में आकर जीव अपने जमाल और जलाल को भूल गया है। इसी से उसके, अल्लाह के और प्रकृति के बीच में परदा पड़ गया

है। परन्तु जब सब अल्लाह ही अल्लाह है तो यह दुःख-सुख, पाप-पुण्य इत्यादि द्वैध-स्थिति क्यों है? जायसी ने इसका भी उत्तर दे दिया है। जैसे जीवात्मा शुद्ध आनन्द-स्वरूप है पर शरीर के संयोग में दुःख आदि से युक्त दिखाई पड़ता है वैसे ही शुद्ध ब्रह्म संसार के व्यावहारिक क्षेत्र में भला-बुरा आदि कई रूपों में दिखाई पड़ता है—

सुनु चेला! जस सब संसारू। ओहि भाँति तुम कया विचारू
जौ जिउ कया तौ दुख सौं भीजा। पाप के ओट पुन्नि सब छीजा
जस सूरूज उअ देख अकासू। सब जग पुन्नि उहै परगासू
मल औ मंद जहाँ लगि होई। सब पर धूप रहै पुनि सोई
मंदे पर वह दिस्टि जो परई। ताकर मैलि नैन सौं टरई
अस वह निरमल धरति अकासा। जैसे मिली फूल महँ बासा
सबै ठाँव औ सब परकारा। ना वह मिला, न रहै नियारा

ओहि जोति परछाहीं, नवौ खंड उजियार
सूरुज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार

इस प्रकार केवल अद्वैतवाद के आधार पर ही जायसी अपने अध्यात्म जगत का निर्माण करने में सफल हो जाते हैं। 'अखरावट' में एक स्थान पर 'माया' का उल्लेख अवश्य है, परन्तु शंकराद्वैत के अर्थों में नहीं। जायसी जीव-ब्रह्म के बीच में माया का स्थिति ही नहीं मानते। "सूफियों के एक प्रधान वर्ग का मत है कि नित्य पारमार्थिक सत्ता एक ही है। यह अनेकत्व जो दिखाई पड़ता है वह उसी का ही भिन्न-भिन्न रूपों में आभास है। यह नामरूपात्मक दृश्य जगत् उसी एक सत् की बाह्य अभिव्यक्ति है। परमात्मा का बोध इन्हीं नामों और गुणों के द्वारा हो सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर जायसी ने कहा है—

दीन्ह रतन विधि चार, नैन, बैन, सरवन मुख
पुनि जब मेटिहि मार, मुहमद तब पछिताब मैं
(अखरावट)

इस परमसत्ता के दो स्वरूप हैं—नित्यत्व और अनंतत्व। दो गुण हैं—जनकत्व और जन्यत्व। शुद्ध सत्ता में तो न नाम हैं, न गुण। जब वह निर्विशेषत्व या निर्गुणत्व से क्रमशः अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आती है तब उस पर नाम और गुण लगे प्रतीत होते हैं। इन्हीं नाम-रूपों और गुणों की समष्टि का नाम जगत् है। सत्ता और गुण दोनों मूल में जाकर एक ही हैं। दृश्य जगत् भ्रम नहीं है, उस परम सत्ता की आत्माभिव्यक्ति या अपर रूप में उसका अस्तित्व है। वेदांत की भाषा में वह ब्रह्म का ही 'कनिष्ठ स्वरूप' है। हल्लज के मत की अपेक्षा यह मत वेदांत के अद्वैतवाद के अधिक निकट है।" (जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १३६)

इस मूल अद्वैतस्थिति के बीच में सब से बड़ा बाधक है अहंकार। 'अखरावट' में जायसी इस अहंकार के बाध और 'सोऽहं' की अनुभूति का उपदेश देते हैं—

'हौं हौं' कहत सबै मति खोई। जौ तू नाहिं आहिं सब कोई
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला
'सोऽहं सोऽहं' बसि जो करई। जो बूझै, सो धीरज धरई
जब चीन्हा तब और न कोई। तन, मन, जिउ, जीवन सब सोई
'हौं हौं' कहत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं

इस प्रकार जायसी चित् और अचित् की एकता स्थापित करते हैं। परंतु शांकर वेदांत से उनका थोड़ा मत-भेद है। शांकर वेदांत विवृत्तिवाद का आश्रय लेता है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त या कल्पित कार्य रूप है। 'मूल सत्य द्रव ब्रह्म ही है

जिस पर अनेक असत्य अर्थात् सदा बदलते रहने वाले दृश्यों का अध्यारोप होता है। जो नाम-रूपात्मक दृश्य हम देखते हैं वह न तो ब्रह्म का वास्तव स्वरूप ही है, न ब्रह्म का कार्य का परिणाम ही है। वह है केवल अध्यास या भ्रांति-ज्ञान। उसकी कोई अलग सत्ता नहीं है। नित्य तत्त्व एक ब्रह्म ही है।' (वही, पृ० १४१) जायसी जीव-ब्रह्मप्रकृति को अभेद रूप से एक मानते हैं। विवृत्ति या माया को उनके सिद्धांत में कोई स्थान नहीं है। परन्तु कहीं-कहीं वे इस प्रकृति (सृष्टि) को ब्रह्म का दर्पण अवश्य कहते हैं। ऐसा चाहे रूपक या दृष्टांत के रूप में कहा गया हो, इससे उनके सिद्धांत में प्रतिबिंबवाद की थोड़ी झलक आ जाती है। परन्तु यह प्रतिबिंबवाद जायसी की मूल मनःस्थिति नहीं है। "सरग आय धरती महँ छावा" कह कर वे स्वर्ग और पृथ्वी, ब्रह्म और जीव को दर्पण और परछाईं से अधिक निकट ले आते हैं। 'अखरावट' में दर्पन की उपमा लेते हुए भी उन्होंने प्रतिबिंबवाद नहीं, अद्वैतवाद को ही महत्व दिया है—

आपुहि आपु जो देखै चहा। आपनि प्रभुता आपु से कहा
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा
आपुहि वन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा, आपु अहेरू
आपुहि पुहुप फूलि वन फूलै। आपुहि भँवर वास-रस भूलै
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै

दरपन झलक हाथ, मुख देखै, दूसर गनै
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए

इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं— "आपुहि दरपन, आपुहि देखा"। इस वाक्य से दृश्य और द्रष्टा, ज्ञेय और ज्ञाता का एक दूसरे से अलग न होना सूचित होता

है। इसी अर्थ को लेकर वेदांत में यह कहा जाता है कि ब्रह्म जगत का केवल निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। 'आपुहि आपु जो देखै चहा' का मतलब यह है कि अपनी ही शक्ति की लीला का विस्तार जब देखना चाहा। शक्ति या माया ब्रह्म ही की है; ब्रह्म से पृथक् उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। "आपुहि घट घट महँ मुख चाहै"—प्रत्येक शरीर में कुछ सौन्दर्य दिखाई पड़ता है वह उसी का है। किस प्रकार एक ही अखंड सत्ता के अलग-अलग बहुत से प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं यह बताने के लिए जायसी यह पुराना उदाहरण देते हैं—

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै
सूरुज दिपै अकास, मुहमद सब महँ देखिए

(वही, पृ० १४२) सच तो यह है कि अखरावट में हम एक साथ वेदांती अद्वैतवाद और सूफ़ी प्रेमवाद (इश्क) का समन्वय पाते हैं। सूफ़ी मतवाद का अधिकांश विकास भारतवर्ष में ही हुआ। अनेक प्रकार के सूफ़ी संप्रदाय चल पड़े। प्रत्येक के अपने-अपने गुरु, अपने-अपने सिद्धांत और अपने-अपने ग्रन्थ थे। जायसी का सम्बन्ध चिश्ती परम्परा से है; परन्तु उनके कुछ अपने भी निश्चित सिद्धांत हैं। पूर्व प्रदेश में जायसी से पहले योग (नाथपंथ), ब्रह्मवाद (संतमत) और शून्यवाद (बौद्ध सिद्धमत) की महत्त्वपूर्ण धाराएँ चल रही थीं। शून्यवाद परवर्ती युगों में योग और ब्रह्मवाद के साथ जुड़ गया। जायसी ने इन दोनों विचारधाराओं को अपने ग्रंथों में स्थान दिया। 'पद्मावत' में योग (नाथपंथ) की सारी साधना ही काव्य का विषय बनी है। यदि पद्मावती और रत्नसेन के प्रेम-विरह के भावमय चित्र हटा लिए जायें और उपसंहार के रूपक को निकाल लिया जाय, तो ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध योग-साधना के प्रतीक के रूप में भी उपस्थित किया जा सकता है। जायसी की यह

विशेषता है कि उन्होंने भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं में से अपने समय की दो प्रचलित विचारधाराओं को अपना लिया है और इस्लामी सूफ़ी सिद्धांतों में से बहुत कम लेकर केवल प्रेम और विरह की साधना पर बल दिया है।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि पद्मावत और अखरावट का हिन्दी के धार्मिक और दार्शनिक काव्य में बहुत बड़ा स्थान है। सीधी-सादी भाषा में वेदांत और तत्त्वदर्शन को जन-ग्राह्य बनाने की पहली सफल चेष्टा इन ग्रन्थों में मिलेगी। 'रामचरितमानस' के उत्तर कांड की विचार-गरिमा का बहुत कुछ श्रेय इन पूर्ववर्ती ग्रन्थों को है।

८

आख़िरी कलाम

'आखिरी कलाम' (१५२५ ई०) जायसी की पहली प्राप्त रचना है और उसमें केवल एक इस्लामी तरुण के स्वर्ग-नरक कल्पना ही मूर्त मिलती है। साहित्य और दर्शन की दृष्टि से यह रचना कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है। फ़ारसी ग्रन्थ-रचना की परम्परा में 'आखिरत नामा' की एक परम्परा थी। यह ग्रन्थ इसी परम्परा का फल है।

पहली चौपाइयों में ईश्वर-वंदना और आत्मकथन के बाद जायसी क़यामत के दिन की कहानी लिखना आरम्भ करते हैं। जब अन्त में प्रलय होगी तब कोई धर्मी मनुष्य संसार में नहीं रह पायेगा। माया-मोह चला जायेगा। जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को पकड़ कर खा जाती हैं, वैसा ही व्यवहार मनुष्यों के बीच हो जायगा। न पंडित रहेंगे, न वेद-पुरान। न दान, न सत। तब सूर्य कृष्ण-वर्ण हो जायगा और सारी सृष्टि कृष्ण-वर्ण दिखलाई पड़ेगी। उस समय काल स्वयम् गदहे पर चढ़, एक हाथ में जाल, एक हाथ में खड्ग लिए इस संसार में घूमता फिरेगा। तब ख़ुदा धरती को आज्ञा देगा और उसके गर्भ से हीरे-मोती-मानिक निकल पड़ेंगे। लोग इन रत्नों के लिए परस्पर ही कट मरेंगे। जो बचेंगे वह एक अचरज से देखेंगे कि मजारी (मार्जारी) नाम की एक बिल्ली प्रगट होगी। वह जिसको सूँघ देगी, वह मृत्यु को प्राप्त हो जायगा। जो फ़िर भी बच रहेंगे, उन्हें वह अपना ग्रास बना लेगी।

विशेषता है कि उन्होंने श
से अपने समय की दो प्र
लिया है और इस्लामी सू
केवल प्रेम और विरह की सा

जो हो, इसमें संदेह नहीं
हिन्दी के धार्मिक और दार्शनि
सीधी-सादी भाषा में वेदांत
बनाने की पहली सफल चेष्ट
चरितमानस' के उत्तर कांड की
श्रेय इन पूर्ववर्ती ग्रन्थों को है।

में लगी थीं। कोई किसी को देखता नहीं था। यह सब स्वर्ग को देखते हुए तीस हज़ार कोस लम्बे सरात के पुल पर चले। उनके एक ओर मुहम्मद चले, दूसरी ओर चले जिबराईल। जो पापी थे, वह तो पुल के नीचे पीप के समुद्र (नरक) में गिर गये और जो नेक (अच्छे) थे, वह इस पुल के पार हो गये।

अल्लाह की आज्ञा से सूर्य फिर दैदीप्यमान हुआ और उसके प्रकाश में खड़े प्राणियों के जीवन का लेखा-जोखा लिया जाने लगा सूर्य की तपन से अनेक प्राणी प्यास के कारण व्याकुल हो रहे थे, परंतु जो भगवान के भक्त थे, धर्मी थे, उनके सिर पर छाँह होने कारण उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं था। अनेक पैगम्बर भी वहाँ थे। वे सब छाँह में बैठे थे। परंतु रसूल (मुहम्मद) तो अपार करुणामय हैं। वे छाँह में नहीं बैठे। उनका हृदय तो उन पापियों के साथ था जो धूप में तप रहे थे। अल्लाह ने मुहम्मद साहब को आज्ञा दी कि वे अपने अनुयायियों को सामने लायें जिनसे उनके धर्म-कर्म का जोखा हो। मुहम्मद साहब को धूप से तपते हुए गुनहगारों की पड़ी थी। उन्होंने पूछा—यदि आज्ञा हो तो पहले इन दुखियों को लाऊँ। अल्लाह ने कहा—इन्हें नहीं। इन्हें भी सजा देना चाहता हूँ। मुहम्मद का हृदय रो रहा था। उन्होंने एक-एक पैगम्बर के पास जाकर उनकी ओर से अल्लाह से बिनती करने को कहा। परंतु कोई तैयार नहीं हुआ। आदम ने कहा—मैं तो आप दुखी हूँ। गेहूँ खाकर मैं आप झंझट में पड़ गया। मूसा ने कहा—मुझे अपनी पड़ी है। फराँऊ बादशाह से मैंने जो झगड़ा मोल लिया था, उसका लेखा-जोखा देना है। ईसा, इब्राहीम और नूर ने भी इसी तरह उत्तर दिया। दयावान रसूल एक पैगम्बर के पास जाते, फिर दूसरे के पास धाते, परंतु उनकी कोई नहीं सुनता।

फिर ख़ुदा मेकाइल को आज्ञा देगा। पहले मेघ बरसेंगे। फिर जलते अङ्गारे। फिर पत्थर की बड़ी-बड़ी शिलायें। इस प्रकार चालीस दिन-रात तक होता रहेगा। तब जिबराईल ईश्वर (ख़ुदा) की आज्ञा पाकर यह दृश्य देखने आयेगा। फिर असराफ़ील को आज्ञा होगी। वह अपना बिगुल बजायेगा। उस बिगुल की आवाज से पृथ्वी-आकाश काँप उठेगा। पहली ही फूँक में पहाड़ गिर कर समतल के बराबर सपाट हो जायेंगे। समुद्र-पर्वतों से पट जायेंगे और चाँद-सूरज-तारे टूट-टूट कर पृथ्वी पर गिर पड़ेंगे। फिर अल्लाह चारों फरिश्तों (अजराईल, जिबराईल, मैकाईल और इसराईल) को बुलायेगा। वह अजराईल को तीनों अन्य फ़रिश्तों को वध करने की आज्ञा देगा। जब केवल अल्लाह और अजराईल (यम) बच जायेंगे, तो अल्लाह कहेगा—जिबराईल, अब तुम्हें प्राण देना होंगे। प्रभु की आज्ञा पाकर जिबराईल गिर कर बड़े कष्ट से प्राण छोड़ देगा। केवल अल्लाह इकेला रह जायेगा।

फिर चालीस बरस बीत जायेंगे।

तब अल्लाह मन में सोचेगा—मेरा नाम लेने वाला तो अब कोई रहा नहीं। इन्हें फिर जीवित करूँ और इनके कर्मों की गाथा इनके मुह से सुनकर इन्हें नरक-स्वर्ग दूँ। इस प्रकार सोच कर अल्लाह ने पहले अपने चार सेवक जीवित किए—वही चारों फ़रिश्ते जिबराईल, मैकाईल, असराफ़ील, और अजराईल। 'अजराईल' को आज्ञा हुई, नबी (मुहम्मद) को पुनर्जीवित करो। वह सारे संसार में पुकार आया, परंतु कहीं कोई आवाज नहीं आई। तब अल्लाह ने कहा—धरती को सूँघते चलो। जहाँ से सुगंध आती हो, वहीं मुहम्मद है। इस बार अजराईल ने मुहम्मद को ढूँढ़ निकाला। मुहम्मद के साथ साथ लाखों-करोड़ों इंसान जी उठे। सब नंगे थे। उनकी आँखें तालू

में लगी थीं। कोई किसी को देखता नहीं था। यह सब स्वर्ग की देखते हुए तीस हज़ार कोस लम्बे सरात के पुल पर चले। उनके एक ओर मुहम्मद चले, दूसरी ओर चले जिबराईल। जो पापी थे, वह तो पुल के नीचे पीप के समुद्र (नरक) में गिर गये और जो नेक (अच्छे) थे, वह इस पुल के पार हो गये।

अल्लाह की आज्ञा से सूर्य फिर दैदीप्यमान हुआ और उसके प्रकाश में खड़े प्राणियों के जीवन का लेखा-जोखा लिया जाने लगा सूर्य की तपन से अनेक प्राणी प्यास के कारण व्याकुल हो रहे थे, परंतु जो भगवान के भक्त थे, धर्मी थे, उनके सिर पर छाँह होने कारण उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं था। अनेक पैगम्बर भी वहाँ थे। वे सब छाँह में बैठे थे। परंतु रसूल (मुहम्मद) तो अपार करुणामय हैं। वे छाँह में नहीं बैठे। उनका हृदय तो उन पापियों के साथ था जो धूप में तप रहे थे। अल्लाह ने मुहम्मद साहब को आज्ञा दी कि वे अपने अनुयायियों को सामने लायें जिनसे उनके धर्म-कर्म का जोखा हो। मुहम्मद साहब को धूप से तपते हुए गुनहगारों की पड़ी थी। उन्होंने पूछा—यदि आज्ञा हो तो पहले इन दुखियों को लाऊँ। अल्लाह ने कहा—इन्हें नहीं। इन्हें भी सजा देना चाहता हूँ। मुहम्मद का हृदय रो रहा था। उन्होंने एक-एक पैगम्बर के पास जाकर उनकी ओर से अल्लाह से विनती करने को कहा। परंतु कोई तैयार नहीं हुआ। आदम ने कहा—मैं तो आप दुखी हूँ। गेहूँ खाकर मैं आप झंझट में पड़ गया। मूसा ने कहा—मुझे अपनी पड़ी है। फराँऊ बादशाह से मैंने जो झगड़ा मोल लिया था, उसका लेखा-जोखा देना है। ईसा, इब्राहीम और नूर ने भी इसी तरह उत्तर दिया। दयावान रसूल एक पैगम्बर के पास जाते, फिर दूसरे के पास धाते, परंतु उनकी कोई नहीं सुनता।

अब रसूल ने खुदा से प्रार्थना की। उन्हें हज़रत के अनुयायियों पर गुस्सा आ रहा था। इन्होंने ही तो हसन-हुसैन को मारा था। उन्होंने कहा, सुनो मुहम्मद, ये तुम्हारे आदमी फ़ातिमा बीबी से झगड़े और इन्होंने हसन-हुसैन को मारा। फ़ातिमा बीबी ही इन्हें क्षमा कर सकती हैं। उन्हें ढूँढ़ कर लाओ। सब जगह ढूँढ़ डाली गई, परंतु बीबी फ़ातिमा नहीं मिली। तब खुदा ने आज्ञा दी और बीबी फातिमा हसन-हुसैन को लेकर खुदा के सामने हाज़िर हुईं। फ़ातिमा ने कहा—हे खुदा, तुम सब का न्याय करने बैठे हो। पहले मेरा न्याय करो। इन्होंने मेरे हसन-हुसैन को क्य ोंमारा ? मेरे हसन-हुसैन को यज़ीद ने क्यों मारा था ? पहले मेरा न्याय हो लेने दो। नहीं तो मेरे शाप से सारा आसमान जल जायेगा। खुदा ने रसूल से कहा—बीबी फ़ातिमा को समझाओ, नहीं तो तुम्हारे सारे आदमी जल जायेंगे। रसूल ने बड़ी देर तक फ़ातिमा को समझाया। फ़ातिमा ने देखा—और रसूल (पैगम्बर) तो छाँह में बैठे हैं, यह रसूल (उनके पिता) धूप में मारे-मारे फिर रहे हैं। उन्हें दया आ गई। उन्होंने कहा—पिता, तुम धूप में मारे-मारे क्यों फिर रहे हो ? उन्होंने उत्तर दिया—मेरे आदमी संकट में हैं। मैं छाँह में कैसे बैठूँ। फातिमा पानी-पानी हो गई। उसने रसूल के अनुयायियों को खुदा से माफ करा दिया, केवल यज़ीद नरक में डाल दिया गया।

इस ख़ुशी में सब को खुदा ने दावत दी। इस दावत में किसी को कुछ खाना नहीं पड़ता था, जो चाहता स्वयं मुँह में चला जाता। खाने के बाद जन्नत की शराब पिलाई गई। उस आनंद का क्या कहना। अंत में मुहम्मद ने खुदा से दर्शन की प्रार्थना की। ज्योति के रूप में अल्लाह ने मुहम्मद और उनके अनुयायियों को दर्शन दिये परंतु देखने की शक्ति न होने से

सब बेहोश हो गये और तीन दिन तक बेहोश रहे। तीसरे दिन जिबराईल ने सब को जगाया और सुन्दर वस्त्र पहरा कर उन्हें बहिश्त ले गये। वहाँ सब को हूरें-परियें मिलीं।

बहिश्त में अनंत विलास था। न मृत्यु थी, न नींद, न दुख, न व्याधि। केवल आनन्द, केवल उपभोग।

यह हुई 'आख़िरी कलाम' की कथा।

स्पष्ट है कि इस 'आखिरी कलाम' में हमें जायसी का 'आखिरी कलाम' (अंतिम रचना) नहीं ढूँढना चाहिये। यह वास्तव में हश्र के दिन की कथा है। क़यामत (प्रलय) के दिन क्या होगा, मुहम्मद (रसूल) की कृपा से गुनहगार कैसे माफ़ कर दिये जायेंगे, यह कवि को बताना है। जान पड़ता है जायसी शिया थे। सूफ़ीमत शिया मुसलमानों में विशेष रूप से प्रिय रहा है। इसी से यहाँ जायसी ने हसन-हुसैन की मृत्यु के लिये रसूल के शिष्यों को गुनहगार ठहराया है और उन्हें उसी समय क्षमा किया है जब रसूल पर दया करके बी फ़ातिमा ने उन पर अनुग्रह किया है। यह सुन्नी विचारधारा नहीं है, शिया विचारधारा है।

कविता और विचार धारा दोनों की दृष्टि से इस ग्रंथ में हमें अधिक नहीं मिलता। यह एक सीधी-सादी रचना है। प्रौढ़ता के कोई भी चिन्ह हमें इसमें नहीं मिलेंगे, अतः हम इसे जायसी की अंतिम रचना किसी भी प्रकार नहीं कह सकते। इसकी महत्ता इसका प्रारंभिक अंश है जिससे कवि के जीवन वृत्त पर प्रकाश पड़ता है। पद्मावत में भी जायसी ने अपने जीवन-वृत्त का उल्लेख किया है। उससे इस ग्रंथ के उल्लेखों की पुष्टि ही होती है। जायसी के जीवन-वृत्त और उनकी गुरु-परम्परा के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमने इस प्रारंभिक अंश से लाभ उठाया है।

इन प्रारंभिक प्रसंगों के अतिरिक्त कवि का वहिश्त (स्वर्ग) का वर्णन अवश्य अच्छा बन पड़ा है। कवि दूलह के रूप में मुहम्मद की कल्पना करता है और दुलहन के रूप में सब दीनदारों को लेता है—

जैसे नवी सँवारे, तैसे वने पुनि साज
दूलह जतन मुहम्मद विहिस्त करै सुख राज

तानव छत्र मुहम्मद माथे। औ पहिरैं फूलन्ह विनु गाँथे
दूलह जतन होव असवारा। लिए वरात जेहैं संसारा
रचि-रचि अछरिन्ह कीन्ह सिंगारा। बाल सुवाल उठे यह कारा
आज रसूल वियाहन ऐहैं। सब दुलहिन दूलह सहुं नैहैं
आदति करि सब आगे ऐहैं। नन्द सरोदन सब मिलि गेहैं
मँदिरन्ह होइहि सेज विछावन। आजु सबहि कहँ मिलिहैं सबन
बाजन बाजै विहिस्त दुवारा। भीतर गीत उठै झनकारा
बनि बनि बैठी अछरी, बैठि जोहैं क विलास
वेगिहि आउ मुहम्मद, पूजै मन कै आस

इस प्रकार का मधुर संबन्ध कबीर और वैष्णव भक्ति काव्य में प्रचुरता से मिलता है परन्तु इस्लामी काव्य में यह प्रचुर मात्रा में है। 'आखिरी दिन' की मूल कल्पना इस्लामी होते हुए भी कवि की इस प्रकार की मधुर भावना ने उसमें बहुत कुछ नवीनता उत्पन्न कर दी है। स्वर्ग की अक्षय सुषमा और अपार सुखों का वर्णन करता हुआ कवि इस प्रकार व करता है—

नित पिरीत, नित नव नव नेहु। नित उठि चौगुन होइ सनेहू
नितइ नित जो वारि बियाहे। बीसौ बीस अधिक ओहिं चाहे
तहाँ त मीचु, न नींद दुख, रह न देह महँ रोग
सदा अनन्द 'मुहम्मद', सब सुख मानै भोग

स्वर्ग की यह कल्पना वैष्णव सूरदास की इस नित्यधाम (गोलोक) की कल्पना से भिन्न नहीं है।

नित्य धाम वृन्दावन श्याम
नित्य रूप राधा व्रजवाम
नित्य रास जल नित्य विहार
नित्य मानखंड़िताभिसार
ब्रह्म रूप ऐई करतार
करणहार त्रिभुवन संसार
नित्य कुंज सुख नित्यहि डोर
नित्यहि त्रिविधि समीर झकोर
सदा बसन्त रहत तहँ वास
सदा हर्ष जहँ नाहिं उदास

(सूरसागर स्कं० १०, पद ७२)

उपसंहार

जायसी के तीनों ग्रंथों पर हम अलग-अलग विचार कर चुके। हमें यहाँ सामूहिक रूप से जायसी की काव्य-प्रतिभा पर विचार करना है। यह निश्चित है कि अन्य संत एवं भक्त कवियों की भाँति साहित्य जायसी की पहली प्रवृत्ति नहीं है। वे पहले साधक हैं। साहित्य में उनकी साधना की झलक मात्र ही दिखलाई पड़ती है। आज हम उनकी साधना को पूरा-पूरा तौल नहीं सकते, परंतु उसकी झाँकी अवश्य पा सकते हैं। हो सकता है, उनकी रचना में साहित्य-रस अधिक नहीं हो, परंतु साधना का रस उसमें है, 'प्रेम की पीर' उसमें है, इसमें किंचित भी संदेह नहीं है। 'पद्मावत' की अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जो हमें इतना भाव-विभोर कर देती हैं कि हमें अपना अस्तित्व ही भूल जाता है। विरह की जिस अपार वेदना को सूरदास ने 'भ्रमरगीत' में अंकित किया है, वही रत्नसेन और पद्मावती की कहानी में गुँथी हुई है। प्रेम और विरह का जैसा चित्रण जायसी में है, वह विश्व-साहित्य में भी एक अत्यंत दुर्लभ वस्तु है।

परंतु जायसी की साधना साहित्य न होने पर भी उसकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति साहित्य में ही हुई है। अतः साहित्य के रूप में उसका अध्ययन करना भी आवश्यक है। साधक के रूप में जायसी पर हम पहले अध्यायों में विशद रूप से विचार कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि जायसी 'बाशिरा सूफ़ी' है, जिंदीक नहीं। वह सूफ़ी शास्त्रीय पद्धति की अध्यात्म साधना को

अपना लक्ष्य स्वीकार करते हैं। अनेक शास्त्रीय प्रवृत्तियों की व्याख्या उन्होंने 'अखरावट' में की है। परंतु वे केवल सूफ़ी ही नहीं हैं। भारतीय वेदांत और योग की साधना से भी वह परिचित हैं और इन दोनों साधनाओं से न जाने कितनी बातें उन्होंने ग्रहण की हैं। परंतु मूल रूप से वह अल्लाह के प्रेम और विरह को ही सब से बड़ी साधना मानते हैं। यह प्रेम और विरह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न नहीं होता। अल्लाह जिसे अपना दर्शन देना चाहता है उसी के हृदय में उसका प्रेम उत्पन्न होता है। जायसी कहते हैं—

थल-थल नग होंहि जेहि जोती। जल-जल सीप न उपनहिं मोती
वन-वन विरिछ न चंदन होई। तन तन विरह न उपजै सोई
जेहि उपना सो औटि मरि गयऊ। जनम निनार न कबहूँ भयऊ
जल अंबुज, रवि रहै अकासा। जो इन्ह प्रीति जानु एक पासा

नागमती के विरह में जो तीव्र वेदना है, जो तीव्र उत्कंठा है, वह उसे साधारण लौकिक प्रेम से उठाकर असाधारण आध्यात्मिक प्रेम बना देती है। इस प्रेम में वासना की तो छाया भी नहीं है। यह तो वह माध्यम है जिसके द्वारा दो हृदय एक हो जाते हैं, मनुष्य की आत्मचेतना विश्व-चेतना के आलिंगन में बँध जाती है। अल्लाह से बंदा (जीव, साधक) दूर है, परन्तु इस दूरी से क्या होता है—

बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास
जो पिरीत पै दुवौ महँ अंत होहिं एक पास

सारे पद्मावत में इसी अलौकिक प्रेमतत्त्व की व्याख्या की गई है। वह अलौकिक प्रेमतत्त्व इस सारी सृष्टि में समाया हुआ है। सृष्टि का सारा बहु-विधि विलास, प्रकृति का सारा वैभव इसी एक ज्योति का अनेकानेक विलास है—

बहुतै जोति जोति ओहि भई
रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोति । रतन पदारथ, मानिक मोती
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसीं । तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी
नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर
हंसन जो देखा हंस या, दसन-जोति नग हीर

स्वर्ग-पृथ्वी, मृत्य-अमृत्य, जड़-चेतन जहाँ भी जो भी है, वह प्रेम के वाणों से बिंध गया है और प्रियतम से मिले बिना उसका निस्तार नहीं है। जायसी कहते हैं—

उन बानन्ह अस को जो न मारा ? वेधि रहा सगरौ संसारा
गगन नखत जो जाहिं न गने । वै सब बान ओहि के हने
धरती बान वेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहिं सब साखी
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े । सूतहिं सूत वेध अस गाढ़े
बरुनि-चाप अस ओपँह बाँधे रन बन-ढाँख
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखहि तन सब पाँख

उन वाणों ने किसे नहीं मारा ? सारा संसार तो उनसे विंधा हुआ है। आकाश के ये इतने नक्षत्र जो गिनने में नहीं आते उसी के वाणों के बिंधे हैं। यह सारी पृथ्वी उसके वाणों ने वेध रखी है। दूर्वादल-लता-वृक्ष इसके साक्षी हैं। मनुष्य के बदन में रोम के रूप में यह उसके वाण ही तो छिदे खड़े हैं। पलकों की तरह तीक्ष्ण तीर जिससे निकलते हैं ऐसा धनुष उसके पास है। वन के ढाक के पेड़ उसने उन तीरों से वेध दिये हैं। वही तीर मनुष्य के शरीर में रोम बन कर चुभे हैं, वही पक्षी के पंख बने। पृथ्वी से स्वर्ग का वियोग जीव-ब्रह्म के महावियोग का प्रतीक है। ब्रह्म से अलग होकर जीव और प्रकृति को जो महान दुःख हो रहा है, उसके कारण रोम-रोम, कण-कण क्रन्दनशील हैं। प्रकृति के सारे तत्त्व उस 'महामिलन'

के लिए तपस्या कर रहे हैं जिसमें वह विराट से एकाकार हो जायेंगे। जायसी कहते हैं—

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ मिनार कै दीन्ह बिछोऊ
सूरज बूड़ि उन होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता
भा बसंत, रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ' राते सब पंखि पखेरू
राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया
घाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र, भएउ दुइ आधा
चाँद सुरुज और नखत-तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरहिं सजाईं
पवन जाइ तहँ पहुँचे चहा। मारा तैस लौटि भुँइ रहा
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीचि बिलाना
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुँइ चूआ

पृथ्वी और स्वर्ग दोनों आदि में मिले हुए थे। किसने अलग करके दोनों का विछोह कर दिया इस वियोग के कारण ही सूर्य तप कर अंत में डूब जाता है। टेसू का वन राव में जैसे दावाग्नि में जल उठता है। वसंत में सारी वनसपतियाँ लाल-लाल हो जाती हैं। सारे योगी-यती उसके अनुराग में रँगे हैं उसके अनुराग के जल में भीग कर पृथ्वी लाल हो गई, पक्षी लाल हो गये, सतियों ने अपने शरीर अग्नि में होम दिये और आकाश के मेघ रक्तवर्ण हो जल उठे। इसके वाद जायसी भावुक रहस्यदर्शी की भाँति प्रकृति की वियोग-साधना का वड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं और उसे जीव-ब्रह्म-एक्य का प्रतीक वनाते हैं। इस महमिलन में जीव की अनन्य विरह स्थिति का लोप हो जाता है। वह अद्वैतस्थिति को प्राप्त हो जाता है। पद्मावति और नागमति के रत्नसेन से मिलने में जीव-ब्रह्म के महामिलन का रूपक खड़ा किया गया है। पद्मावति अपनी सखियों से कहती है—

आजु मरम मैं जानिउँ सोई । जस पियार पिउ और न कोई
हिये छाँह उपना औ' सीऊ । पिउ न रिसाउ लेउ बस जीऊ

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ । ओही देखहुँ ठावहिं ठाऊँ
जौ जिउ महँ तौ उहै पियारा । तन मनु सौं नहि होइ निनारा

यहाँ कथा रत्नसेन-पद्मावती की लौकिक कथा नहीं रह जाती, वह कथा से और बड़े अर्थ प्रगट करने लगती है। यह नये अर्थ ही जायसी की कथा के प्राण हैं। कथा के अंत में जायसी ने उस पर स्पष्ट रूप से रूपक आरोप किया है और उसे लौकिक स्तर से ऊपर उठा कर अलौकिक और आध्यात्मिक बना दिया है। परंतु स्वयं कथा के बीच-बीच में जो अनेक आध्यात्मिक संकेत हैं, वह इस रूपक से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सच तो यह है कि जायसी की प्रेरणा मूल रूप से आध्यात्मिक होने पर भी उसमें जन-मन-रंजन के अनेक गुण हैं और वह एक ही साथ मृत्य और अमृत्य, पृथ्वी और स्वर्ग को छूती है। उसका कथापक्ष लोक-रंजन की समस्त प्रवृत्तियों से पुष्ट है, उसका अध्यात्म पक्ष एक ही साथ वेदांत, योग और सूफ़ी मतवादों को स्पर्श करता है। मध्य युग में दर्शन, धर्म, काव्य और लोक-रंजन के बीच की भित्तियाँ गिर गई थीं। जो लोक-रंजन था, वही काव्य का उच्चातिउच्च उन्मेष बन गया और उसी में धर्म और दर्शन के बड़े-बड़े तत्त्व, बड़े-बड़े सिद्धांत समाविष्ट हुए। रामचरितमानस, सूरसागर और पद्मावत इस दर्शन-धर्म-काव्य-लोकरंजन के तीन सुन्दरतम योगायोग हैं।

जैसा हम पहले कह चुके हैं जायसी के सामने साहित्य अधिक नहीं था। वे स्वयं पंडित और शास्त्रज्ञ नहीं जान पड़ते। जो ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया उसका संग्रह लोक-जीवन से हुआ

होगा। इसी से पद्मावत का साहित्य पक्ष रामचरितमानस के साहित्यपक्ष की भाँति पुष्ट नहीं है। जायसी के सामने तीन ही आदर्श थे (१) पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानक काव्य, (२) कबीर काव्य, (३) मसनवी काव्य। संभव है, वह अधिक मसनवी काव्यों से परिचित न हों, परंतु अपने ग्रंथों में मसनवी की अनेक शैलियाँ उन्होंने अपनाई हैं। इससे यही जान पड़ता है कि वह किसी न किसी रूप में 'मसनवी' शैली से पूर्णतः परिचित थे। परंतु जायसी का सब से बड़ा बल यह है कि वह लोक-जीवन के पूर्ण पंडित थे। जहाँ से भी, जैसे हो सका, उन्होंने अपनी ज्ञान की गठरी बाँध ली और उसका सुअवसर पर सबसे सुन्दर उपयोग किया। लोक-जीवन में शिक्षाप्रद सूक्तियों, नैतिक तत्त्वों, मुहावरों और किम्वदंतियों का प्राधान्य रहता है। जायसी के काव्य में इन सब का विशद प्रयोग है। जान पड़ता है, जायसी केवल लोक-जीवन की इन प्रिय वस्तुओं से परिचित ही नहीं थे, वे स्वयं भी बड़े वाग्चतुर थे। प्रातःकाल कौवे काँव-काँव करने लगते हैं। जायसी कहते हैं—

भोर होइ जो लागै उठहिं रोर कै काग
मसि छूटै सब रैनि की कागहिं केर अभाग

वृद्ध मनुष्य पृथ्वी की ओर झुक कर चलता है या उसका सिर डुलने लगता है। अब जायसी की उक्ति देखिये—

मुहमद बिरिध जो नइ चलै, काह।चलै भुँइ रोइ
जोबन-रतन हेरान है, मनु धरती पर होइ
× × ×
बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्हि असीस

मिट्टी पर एक उक्ति देखिये—

माटी मोल न किछु लहै औ माटी सब मोल
दिस्टि जो माटी सौं करै माटी होइ अमोल

(मिट्टी = मिट्टी; मानव-शरीर) साधारण मिट्टी का कोई मूल्य नहीं, वह अत्यंत तुच्छ है, परंतु मिट्टी का बना यह मानव शरीर अमूल्य है। मिट्टी पर भी यदि दृष्टि करे अर्थात् तुच्छ से तुच्छ का भी तिरस्कार न करे तो मिट्टी (शरीर) अमूल्य हो जाय। इसी प्रकार प्रेम की व्याख्या सुनिये—

बसै मीन जल धरती अंबा बसै अकास
जौं पिरीति पै दुवौ महँ अंत होंहि एक पास

प्रेम-सम्बंधी भाव - व्यंजना के भीतर एक चमत्कार-योजना देखिये—

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाय
मकु तेहि मारग उडि परै कंत धरै जहँ पाय

इसी प्रकार की एक दूसरी भाव-व्यंजना वस्तु-चित्रण के बीच में स्थान-स्थान पर मिलेगी—

चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलौं हो नाह
एक चाँद निसि सरग महँ दिन दूसर जल माहँ

इस तरह की सूक्तियों से काव्य में एक विशेष प्रकार का आनंद आ जाता है। प्रेम-प्रसंग में इस प्रकार की सूक्तियों की एक परम्परा प्राचीन काल से चली आती थी। सूरदास के भ्रमरगीत काव्य में हम इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पाते हैं।

परन्तु सूक्तियाँ ही सब कुछ नहीं हैं। अनेक प्रसंगों के बीच में जायसी ने उच्च नैतिक तत्त्व की व्याख्या की है और दान, नम्रता, उपकार, साहस-प्रभृति उच्च वृत्तियों को प्रशंसा-योग्य बताया है। दान की महिमा के सम्बंध में कवि कहता है—

धनि जीवन औ ताकर हीया। ऊँच जगत महँ जाकर दीया
दिया जो जप-तप सब उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं
एक दिया ते दसगुन लहा। दिया देख सब जग मुख चहा
दिया करै आगे उजियारा। जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा
दिया मँदिर निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं, घर मूसह चोरा

नम्रता के सम्बन्ध में कवि का कथन है—

एहि सेंति बहुरि जूझ नहि करिए। खड़ग देखि पानी होइ ढरिए
पानिहि काह खडग के धारा। लौटि पानि होइ सोइ को मारा
पानी केर आग का करई। जाह बुझाय जौ पानी परई

उपकार तो संत-मत का मूल मंत्र ही है—

मंदहि भल जो करै भल सोई। अंतहि भला भले कर होई
शत्रु जो बिन देइ चाहै मारा। दीजिय लोन जानि विष-हारा
विष दीन्हे विसहर होइ खाई। लोन दिए होइ लोन दिलाई
मारे खडग खडग कर लेई। मारे लोन नाह सिर देई

और कहीं-कहीं तो यह सूक्तियाँ आदर्श वाक्य जैसी सूत्रबद्ध हो जाती हैं जैसे साहस के सम्बंध में यह उक्ति—

साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई

परंतु जायसी लोक-व्यवहार में पटु व्यक्ति थे, वे केवल संत ही नहीं थे। अतः जहाँ उच्च वृत्तियों की प्रशंसा है, वह लोक-संग्रह के भाव से मनुष्य की अन्य मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों की परख भी उन्होंने जहाँ-तहाँ की है। द्रव्य की महिमा के संबंध में कवि कहता है—

दरब तें गरब करै जो चाहा। दरब तें धरती सरग बेसाहा
दरब तें हाथ आव कविलासू। दरब तें अछरी छाँड़ न पासू
दरब तें निरगुन होइ गुनवंता। दरब तें कुबुज होइ रूपवंता
दरब रहै भुँइ, दिपै लिलारा। अस मन दरब देइ को पारा

इस तरह की स्वाभाविक उक्तियाँ संत-काव्य में नहीं मिलेंगी, परंतु जायसी तो सब कुछ परखे बैठे थे। दुख के सम्बंध में उनकी यह उक्ति देखिये—

दुख जारै, दुख भूँजै, दुख खोवै सब लाज
गाजहि चाहि अधिक दुख, दुखी जान जेहि बाज

इस एक दोहे में दुखी प्राणों की जितनी अनुभूति भर दी गई है, वह बीसियों पंक्तियों में नहीं समा सकती थी।

परंतु जायसी की साहित्यकला की नींव और भी दृढ़ है। वह फुटकल प्रसंगों और लोक-ज्ञान के चुटकलों के कारण ही प्रसिद्ध नहीं हैं। उनकी भाषा, उनके साहित्यिक प्रयोग, उनके अलंकार, उनका रस-निरूपण सब उन्हें उच्च श्रेणी का कवि सिद्ध करते हैं। पद्मावत की भूमिका में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी की भाषा पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। वह लिखते हैं—"जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वर माधुर्य "भाषा" का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। 'मंजु, 'अमंद' आदि की चासनी उसमें नहीं है। जायसी की भाषा और तुलसी की भाषा में यही बड़ा भारी अंतर है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोक-भाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य-स्रोत तक ही थी, पर गोस्वामी जी की पहुँच दीर्घ-संस्कृत परंपरा द्वारा परिपक्व चाशनी के भांडागार तक भी पूरी-पूरी थी। दोनों के भिन्न प्रकार के माधुर्य का अनुमान नीचे उद्धृत चौपाइयों से हो सकता है—

[१] जब-हुँत कहिगा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी
तब हुँत तुम्ह बिनु रहै न जीऊ। चातक भइउँ कहत 'पिउ पीऊ'

भइउँ चकोरि सो पंथ निहारी। समुद समीप कस नयन पसारी
भइउँ विरह जलि कोइलि कारी। डार डार जिमि कूकि पुकारी
—जायसी

[२] अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू
सुकृत संभुतन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती
जन-मन-मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुनि गन बस करनी
श्री गुरु पद-नख-मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती
—तुलसी

यदि गोस्वामी जी ने अपने "मानस" की रचना ऐसी ही भाषा में की होती जैसी कि इस चौपाई की है—

उदधि आइ तेइ बंधन कीन्हा। इति दसमाथ अमर पद दीन्हा

तो उसकी और 'रामचरितमानस' की एक भाषा होती। पर जायसी में इस प्रकार की भाषा ढूँढ़ने को एकाध जगह मिल सकती है। तुलसीदासजी में ठेठ अवधी की मधुरता भी प्रसंग के अनुसार जगह-जगह मिलती है। सारांश यह कि तुलसीदासजी को दोनों प्रकार की भाषाओं पर अधिकार था और जायसी को एक ही प्रकार की भाषा पर। एक ही ढङ्ग की भाषा की निपुणता उनकी अनूठी थी। अवधी की खालिस, बे-मेल मिठास के लिए 'पद्मावत' का नाम बराबर लिया जायगा।" (जायसी ग्रंथावली, पृ० १६६-१६७) १६वीं शताब्दी की अवधी भाषा का लोक-व्यवहृत रूप हमें जायसी में मिलता है, इसमें संदेह नहीं। उसी के द्वारा हम स्वयंभू के अपभ्रंश काव्य से अपनी भाषा की परंपरा जोड़ सकते हैं। इस दृष्टि से जायसी का ऐतिहासिक महत्व और बड़ा हो जाता है। सूरदास और तुलसीदास शास्त्रविद् पंडित थे। उनके काव्य में स्थान-स्थान पर लोकवाणी अवश्य मिलती है, परंतु उनके अधिकांश काव्य में

भाषा का सामान्य रूप नहीं मिलता। संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों और साहित्य-धर्म-दर्शन की प्राचीन शब्दावलि के समावेश के कारण उसका रूप ही दूसरा हो जाता है। यह बात उनके काव्य को अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ता प्रदान करती है, परंतु सरल, लोक-व्यवहार की भाषा का आनंद जाता रहता है।

इस सामान्य लोक-व्यवहार की भाषा में जायसी ऊँचे-ऊँचे विचार भरने सफल हो सके हैं, यह उनके लिए श्रेय की ही बात होगी। परंतु और भी अधिक श्रेय की बात यह है कि उन्होंने अपनी कथा को इसी भाषा के द्वारा रससिद्ध किया है। पद्मावति के वियोग का यह चित्र देखिये—

पद्मावति विनु कंत दुहेली। विनु जल कँवल सूखि जस वेली
गाढ़ी प्रीति सो मोसौं लाए। दिल्ली कंत निचिंत होइ छाए
सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोइ न बहुरा कहै सँदेसू
जा नवनै सो तहाँ कर होई। का आवै किछु बात न सोई
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जा रे गएउ सों वहुरि न आवा
कुवां धार जल जैस बिछोवा। डोल भरै नैनन्ह धनि रोवा
लेजुरि भई नाह विनु तोहीं। कुवाँ परी, धरि काढ़सि मोहीं

नैन-डोल भरि ठारै, हिये न आगि बुझाय
घरी घरी जिउ आवै, घरी-घरी जिउ जाय

नीद-गँभीर कहाँ हो पीया। तुम्ह विनु फाटे सरवर हीया
गएहु हेसइ, परेहु केहि हाथा। चलत सरोवर लीन्ह न साथा
चरत जो पंखि केलि कै नीरा। नीर घटे कोइ आव न तीरा
कँवल सूख, पखुरी बेहरानी। गलि गलि कै मिलि छार हेरानी
विरह-रेत कंचन-तन लावा। चून चून कै खेह मेरावा
कनक जो कन-कन होइ वेहराई। पिय कहँ, छार समेटे भाई
विरह पवन वह छार सरीरू। छारहि आनि मेरावहु नीरू

अवहुँ कि कावहु कै मया, विथुरी छार समेट
नइ काया, अवतार नव होइ तुम्हारे भेंट

इसी भाषा में कवि ऊँची से ऊँची कल्पना सजा कर रख सकता है। पानीपत के युद्ध में बाबर ने पहले-पहल तोपों का प्रयोग किया था। जायसी इस नये अस्त्र से पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने परंपरा के ढङ्ग पर नारी-रूप में इस नये अस्त्र को कल्पना की भूमि पर उतारा है—

कहौं सिंगार जैसि वै नारी। दारू पियहिं जैसि मतवारी
उठै आगि जौ छाँड़हिं साँसा। धुआँ जौ लागै जाइ अकासा
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिला तरिवन चमकत जाहीं
कुच गोला दुइ हिरदय लाए। अंचल धुजा रहहिं छिटकाए
रसना लूक रहहिं मुख खोले। लंका जरै सो उनके बोले
अलक जँजीर बहुत गिउ बाँधे। खीचहिं हस्ती, टूटहि काँधे
बीर सिंगार दोउ एक अऊँ। सत्रुसाल गढ़ भंजन नाऊँ
तिलक पलीता माथे, दसन बज्र के बान
जेहि हेरहिं तेहि मारहिं चुटकुस कटहिं निदान

जेहि जेहि पंथी चली वै आवहिँ। तहँ तहँ जटै आगि जानु लापई
जरहिं जो परबत लागि अकासा। बनखँड धिकहिं परास के पासा
गैमउं गयंद जरे गए कारे। औ बन-मिरिग रोअ झवँकारे
कोइल, नाग, काग औ भँवरा। और जो जरे तिनहिं को सँवरा
जरा समुद्र पानि भा खारा। जमुना साम भई तेहि झारा
धुआँ जाम, अँतरिख भए मेघा। साम भा धुआँ जो ठेघा
सूरुज जरा चाँद औ राहू। धरती जरी, लंक भा दाहू
धरती सरग एक भा, तवहु न आगि बुझाइ
उठे बज्र जरि डुंगवै, धूम रहा जग छाइ

सच तो यह है कि लोक-भाषा का इतना पुष्ट और सार्थक

प्रयोग हिन्दी के किसो कवि ने नहीं किया है। लगभग सभी श्रेष्ठ कवि संस्कृत भाषा, संस्कृत पदावली और संस्कृत काव्य साहित्य एवं काव्य शास्त्र से पद-पद पर सहारा लेते हैं। धरती पर बहने वाली सामान्य भाषा को जनगंगा को काव्यतीर्थ के नीचे ले आने का भगीरथ-प्रयत्न किसी कवि ने नहीं किया। इसका श्रेय जायसी को है। आज जब भिन्न-भिन्न जनपदों की लोक-भाषाओं (मातृभाषाओं) को साहित्य-श्रेणी तक उठाने की वात चली है, तो जायसी की भापा का महत्व और भी बढ़ जाता है। जायसी से पहले अवधी जनपदीय भाषा मात्र थी। सूफ़ियों ने इसे साहित्य के लिए अपनाया। जायसी इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं। एकमात्र अवधी को लेकर, उसे अन्य प्रादेशीय भापाओं और संस्कृत भाषा के मिश्रण से मुक्त रखकर, कल्पना, भाव, रस, रीति, धर्म और दर्शन की अत्यन्त ऊँची और सार्थक अभिव्यंजना उन्होंने की।

जायसी की कथा और उनके चरित्र-चित्रण पर भी थोड़ा कहना है। जायसी साहित्यशास्त्र के पंडित नहीं हैं। उनके सामने कथा के जो फ़ारसी आदर्श (मसनवी इत्यादि) रहे होंगे, उनमें कथासौष्ठ और कहानी-कला पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। किसी भी वैचित्र्य पूर्ण विविध-प्रसंगमयी कहानी को काव्य का रूप दे देना मसनवी लिखने वालों की शैली रही है। केवल एक बात होनी चाहिये। उस कहानी में प्रियप्राप्ति की कठिनाइयों और प्रेम को पीर (मिलन, वियोग) के प्रसंग मार्मिक ढंग से आये हों। केवल इन्हीं मार्मिक प्रसंगों को लेकर भिन्न-भिन्न सूफ़ी कवियों ने प्रेम-विरह-सम्बन्धी अनेक प्रभावशाली चित्रण उपस्थित किये हैं। वास्तव में सूफ़ी कवियों को न साहित्यिकता का आग्रह है, न मौलिकता का। जायसी ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती कवियों के नाम लेकर उनके

प्रति अपने ऋण को स्वीकार किया है। साहित्यिकता जायसी में काफ़ी है, परन्तु वह लोक के भीतर से आई है, साहित्य के भीतर से नहीं। साहित्य और मौलिकता से ऊपर जो सार्वभौम प्रेम-विरह के भाव हैं, उन सार्वभौम प्रेम-विरह के भावों के सहारे विश्वव्यापी आध्यात्मिक प्रेम-विरह की जितनी भी अभिव्यंजना हो सकती है, वह सब जायसी के काव्य में है। हो सकता है, आज हम उन्हें वह स्थान न दे सकें जो कुछ वर्षों पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें दिया था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिंदी कथा-काव्यों में 'पद्मावत' का बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान है और अनेक त्रुटियों के होते हुए भी वह सूरसागर, रासो, रामचरितमानस प्रभृति क़थाग्रंथों की परंपरा में ही आता है। सूफ़ी कवियों का सबसे कमज़ोर पहलू उनका चरित्र-चित्रण है। जायसी के काव्य में कितने ही चरित्र आये हैं— रत्नसेन, पद्मावती, नागमती, राघव-चेतन, गोरा, बादल, बादल की माता, देवपाल, देवपाल की दूती, अलाउद्दीन। जायसी का ध्यान कथा-प्रवाह पर ही भी विशेष रहा है और कथा-प्रवाह में जो चरित्र जिस प्रकार रँग गया, वह चरित्र उस प्रकार रँगा दिखलाई पड़ता है। अधिकांश चरित्र या अच्छे हैं या बुरे। उन्हें कला के हाथों से सँवारने का प्रयत्न नहीं हुआ है। प्रत्येक चरित्र को किसी विशेष गुण या भाव में गूँथ दिया गया है। संश्लिष्ट चरित्र के नाम पर एक भी चरित्र पद्मावत में नहीं मिलेगा। प्रत्येक चरित्र किसी न किसी रूप में आदर्श अथवा भ्रष्ट है—उसी एक रँग में वह बराबर रँगा हुआ है। "रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, गोरा-बादल वीरता के आदर्श हैं; पर एक साथ ही शक्ति, वीरता, दया, क्षमा, शील, सौन्दर्य और विनय इत्यादि सब का कोई एक आदर्श जायसी के पात्रों में नहीं हैं।" (जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ११७)

मानवी प्रकृति का "सन्निवेश पद्मावत में बहुत कम मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास ने जिस प्रकार स्थान-स्थान पर मनुष्य मात्र में सामन्यतः पाई जाने वाली अंतर्प्रवृत्ति की झलक दिखाई है उस प्रकार जायसी ने नहीं।" (वही, पृ० १२७) इस तुलना को आगे बढ़ाते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"एक उदाहरण लीजिये। गौरी के मंदिर में जाकर इच्छा रहते भी जानकी का राम की ओर न ताक कर आँख मूँद कर ध्यान करने लगना उस कृत्रिम उदासीनता की व्यंजना करता है.जो ऐसे अवसरों पर स्वाभाविक होती है। सखियों ने उस अवसर पर जो परिहास की स्वच्छंदता दिखाई है वह भी सामान्य स्वभावगत है। पर जायसी की पद्मावती महादेव के मंडप में सीधे जोगी रत्नसेन के पास जा पहुँचती है और उसकी सखियों में ऐसे अवसर पर स्वाभाविक परिहास का उदय भी नहीं दिखलाई पड़ता। रूप और शील के साक्षात्कार से मनुष्य मात्र की अंतर्वृत्ति जिस रूप की हो जाती है उसकी बहुत सुन्दर झाँकी गोस्वामीजी ने उस समय दिखाई है जिस समय वनवासी राम को जनपदवासी कुछ दूर तक पहुँचा आते हैं और उनकी वाणी सुनने के लिए कुछ प्रश्न करते हैं। कैकेयी और मंथरा के संवाद में भी मनोवृत्तियों का बहुत सूक्ष्म निरीक्षण है। जायसी भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों को परख में ऐसी दक्षता नहीं दिखाते (वही, पृ० १२७—१२८)।

जायसी की जो विशेषता साधारण पाठक की पकड़ में सब से पहले आती है वह उसकी कल्पना की अतिशयता। कुछ मसनवी-काव्य शैली को परंपरा से प्रभावित होकर, कुछ अपनी प्रकृत-वश जायसी ने स्थान-स्थान पर कल्पना के रंगीन महल खड़े कर दिये हैं। तुलसीदास का काव्य इस दृष्टि से जायसी के काव्य के ठीक विपरीत है। तुलसीदास क्लासिकल हैं,

मर्यादावादी हैं; जायसी रोमांटिक हैं, स्वच्छंदतावादी। उनकी उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ सब नई हैं, शास्त्रों के पन्ने उनके लिए नहीं उलटे गये। उन्होंने जो देखा, उस पर चमकते नये रंगों का एक धूपछाहीं आवरण चढ़ाकर देखा। जो कहा, उसे इतना उठाकर कहा कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सम्वन्ध आकाश-पाताल का सम्वन्ध बन गया। अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति से जायसी का काव्य पद-पद पर दूषित है। वह जैसे साधारण अनुभव की बात कहना ही नहीं चाहते। स्त्री के रूपक में तोप के वर्णन का उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। इस प्रकार की ऊहापोहात्मक कल्पना काव्य के प्रकृत रस में बाधा पहुँचाती है। परन्तु उस युग में कदाचित् स्त्री (वह भी युवती) कवियों के चिंतन पर उसी प्रकार छाई हुई थी जिस प्रकार आज के युग में छाई हुई है। मिलन (संयोग शृङ्गार)—प्रसंगों के अवसरों पर रति-रण का रूपक बाँधने की जिस प्रथा को जयदेव प्रभृति वैष्णव भक्त कवियों ने चलाया था, उसे भी जायसी ने बराबर निबाहा है और इतना निबाहा है कि कहीं-कहीं मन घृणा और क्षोभ से भर जाता है। बादल की नवागता बहू कहती है—

जौ तुम चहहु जूझि, पिय, बाजा। कीन्ह सिंगार-जूझ मैं साजा
जोवन आइ सौंह होइ रोपा। पिघला बिरह कामदल कोपा
भौंहें धनुष, नयन सर साधे। बरुनि बीच काजर विस बाँधे
अलक-फाँस गिउ मेलि असूझा। अधर अधर सौं चाहहिं जूझा
कुंभस्थल कुच दोउ मैमंता। पेलौं सौंह, सँभारहु कंता

कौन भारतीय वधू इतनी निर्लज्ज हो जायगी कि पहले समागम के अवसर पर अपने पति से इस प्रकार प्रलाप करेगी? परन्तु कल्पना और वर्णनातिशयता की झोंक में जायसी कहते चले जाते हैं। अन्य स्थलों पर उन्होंने भारतीय नारी के शील को

भली प्रकार निभाया है, परन्तु जहाँ संयोग के प्रसंग हैं, वहाँ वे चूक गए हैं।

फिर भी अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनमें जायसी की कल्पना अत्यन्त सहृदयता से सजी हुई मिलती है और वह आकाश-पाताल से सादृश्य-धर्म-मूलक नई-नई सुन्दर सामग्री जुटाती है। कुछ उदाहरणों से इस क्षेत्र में जायसी की श्रेष्ठता भली भाँति प्रतिपादित हो जायगी—

१—अस वै नयन चक्र दुइ भवँर समुद उलथाहिं
जनु जिउ घालहिं डोल महँ लेइ आवहिं जेह जाहिं
(क्रियोत्प्रेक्षा)

२—का सरवरि तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी वह निकलंकू
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा
सुवा सो नाक कठोर पँवारी। कोमल तिल-पुहुप सँवारी
(व्यतिरेक)

रतनारे नेत्रों के बीच में घूमती हुई पुतलियों की शोभा का वर्णन देखिये—

३—राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ

इसी प्रकार अचेत पद्मावती से सखी कहती है—

कँवल-कली तू, पदमिनी, गइ निसि भएउ बिहानु
अबहुँ न संपुटे खोलसि, सब रे उवा जग भानु

पंक्तियों में जायसी का प्रिय अलंकार रूपकातिशयोक्ति योग में आया है। इस अलंकार के और प्रयोग देखिये—

भानु नावँ सुनि कँवल बिगासा। फिरि कै भँवर लीन्ह मधु वासा

× × ×

साम भुअंगिनि रोमावली। नाचि भहि निकसि कँवल कहँ चली
आइ दुवौ नारँग बिच भई। देखि मयूर ठमकि रहि गई

× × ×

पन्नग पंकज कमुख गहे, खंजन तहाँ वईठ
छत्र, सिँघासन, राज, घन, ता कहँ होई जो दीठ

४—कभी-कभी तो कवि अत्यंत संश्लिष्ट अलंकारों का प्रयोग करता है जैसे इस पंक्ति में—

जोबन-जल दिन-दिन जस घटा। भँवर छपान हँस परगटा

इस पर आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"जैसे-जैसे यौवन-रूपी जल दिन-दिन घटता जाता है वैसे ही वैसे (शरीर-रूपी नदी या सरोवर में) पानी की बाढ़ के भँवर छिपते जाते हैं और हंस (मानसरोवर से आकर) दिखाई पड़ने लगते हैं। यह तो हुआ सांगरूपक। पर एक बात है। जल का प्रयोग जिस पर किया गया है उस यौवन का उल्लेख तो साथ ही है पर दूसरी पंक्ति में भँवर और हंस का जिनपर आरोप है उन काले और श्वेत केशों का उल्लेख नहीं है। अतः दूसरी पंक्ति में हमें रूपकातिशयोक्ति माननी पड़ती है।" वास्तव में ज्ञात-अज्ञात रूप से अनेक अलंकार जायसी की रचनाओं में आ गये हैं, परन्तु उनके लिए कवि ने स्वयं कोई प्रयत्न नहीं किया है। उसकी कल्पना अत्यन्त निर्बाध रूप से प्रवाहित होती है और प्रिय के प्रेम-भाव में रँगी, सृष्टि और उसके सौन्दर्य के उपादान विलक्षण सादृश्यों की स्थापना करते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी और उनकी रचनाओं पर हम विशद रूप से विचार कर चुके। हमने देखा कि जायसी एक विशेष वर्ग के कवि हैं। उन्होंने इस्लामी सूफ़ी धारा का वेदांत-योगनिष्ठ भारतीय रूप उपस्थित किया है। जो कुछ उन्होंने उपस्थित किया है, वह उनका अपना है, मौलिक है, और शास्त्र-ज्ञान के माध्यम से नहीं स्वयं आत्मानुभूति के माध्यम से उन्हें प्राप्त हुआ है। वेदांत और योग जायसी के समय की दो महत्व-

पूर्ण धाराएँ थीं। एक तीसरी धारा भक्तिवाद का हमने नाम नहीं लिया है। पद्मावत में राम और कृष्ण की पौराणिक कथाओं के जो निर्देश हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि जायसी इन पौराणिक महापुरुषों से पूर्णतः परिचित थे। यह भक्तिवाद उनके लिए अधिक रहस्यमय नहीं रहा होगा। स्वयं सूफ़ीमत की प्रेम की साधना भक्तिवाद से किसी भी प्रकार भिन्न, किसी भी प्रकार कम आकर्षक नहीं है। इसी से कदाचित् जायसी ने अपने ग्रंथ में भक्तिवाद को स्थान नहीं दिया। उन्होंने वेदांत-योग-सूफ़ीमत समन्वित एक सामान्य प्रेम-मार्ग की खोज की। दसवीं शताब्दी के लगभग योग और वेदांत की दो धाराओं की जो गंगा-जमुना प्रवाहित हुई थी, जिसने कबीर की रहस्यमयी वाणी में एक नई गंगा-जमुनी आभा दिखलाई, वही सूफ़ी विचारधारा की अन्तःसलिला सरस्वती के संगम के बाद पद्मावत में त्रिवेणीरूप में उपस्थित हो सकी है। यह संगम साधारण पाठक की समझ में नहीं आता, इसमें जायसी का कोई दोष नहीं। जायसी का श्रेय यह है कि उन्होंने अभारतीय सूफ़ी विचारधारा को भारतीय दार्शनिक विचारधारों के साथ मिला कर देखा है और उसे अपने युग के अनुरूप नया रूप दिया है। अन्य मध्ययुगीन भक्तों और संतों की तरह जायसी की साधना भी व्यक्ति की साधना है, साहित्य की सामाजिकता की पुकार के इस युग में चाहे यह बात लोगों को अखरे। गोरखनाथ, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी सभी ने कहीं थोड़ा, कहीं अधिक समाज से हटकर केवल अपनी तपस्या, अपनी निष्ठा, अपनी उच्च वृत्तियों को जाग्रत किया है। यदि हम प्राचीन भक्त-संत-सूफ़ी काव्य को आधुनिक दृष्टिकोणों से परखना चाहेंगे तो हम अपने कवियों के प्रति अनुदार ही सिद्ध होंगे। इन कवियों की महत्ता यही है कि उन्होंने अपने जीवन

में उच्चतम प्रवृत्तियों को जगाया, मनुष्य और प्रेम की सर्वोपरिता और सार्वभौमिकता की घोषणा की और अपने चारों ओर उमड़ते अंधकार से अपने को भयभीत नहीं होने दिया !

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि जायसी का हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवि नहीं ठहरें, परन्तु दूसरी श्रेणी में तो उनका स्थान शीर्ष पर रहेगा ही ! प्रेम और विरह भाव के आध्यात्मिकता-व्यंजक चित्रण और अवधी लोक-भाषा के अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक प्रयोग में वह अद्वितीय हैं। उनकी अनेक पंक्तियों में जो भाषा-सौन्दर्य है, वह तुलसी को छोड़ कर अन्यत्र दुर्लभ है। एक अत्यन्त व्यापक, सार्वभौम, मार्मिक, प्रेम-विरह-भाव की व्यंजना जैसी नागमती के विरह-वर्णन (षट्ऋतु वर्णन और बारहमासा) में है वैसी कृष्ण कवियों के भ्रमरगीतों को छोड़कर और कहीं नहीं मिलेगी। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी के प्राचीन काव्य के प्रेमी सदा उनका आदर करते रहेंगे और जैसे-जैसे हम धरती के निकट आते जायेंगे, वैसे-वैसे यह आदर-भाव बढ़ता जायगा।